विश्व
की कहानी

( ऊपर ) 'ययाति' तारा-समूह के सन् १९०१ वाले प्रसिद्ध नूतन तारे का फ़ोटोग्राफ़। ( नीचे ) 'चित्रकार' तारा-समूह के सन् १९२५ वाले उस नूतन तारे के भड़क उठने का कल्पित चित्र, जो दो टुकड़ों में विभाजित होते देखा गया था।

# युग्म, परिवर्त्तनशील और नूतन तारे

**तारों में अनेक ऐसे हैं जो मानों जोड़ी बाँधकर आकाश में विचर रहे हैं, कई ऐसे हैं जिनकी चमक नियमित अथवा अनियमित रूप से घटती-बढ़ती दिखाई देती है, और कुछ ऐसे भी हैं जो अदृष्ट की ओट में से मानों एकाएक प्रकट होकर एकबारगी ही दमक उठते और पुनः मंद पड़ जाते हैं। प्रस्तुतः लेख में इन्हीं युग्म, परिवर्त्तनशील और नूतन तारों का संक्षिप्त किन्तु मनोरंजक विवरण दिया जा रहा है।**

## युग्म तारे

दूरदर्शक के आविष्कार के बाद से ही लोगों ने देखा कि कुछ तारे दोहरे दिखलाई पड़ते हैं; उनमें वस्तुतः दो तारे हैं, जो इतने समीप हैं कि कोरी आँख से वे एक तारे-से जान पड़ते हैं। इन दोहरे या युग्म तारों पर पहले तो किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया, परंतु अठारहवीं शताब्दी में सर विलियम हरशेल ने सोचा कि इन युग्म तारों में से एक बहुत दूर होगा, एक अपेक्षाकृत निकट, और इसलिए यदि इनकी जाँच छः-छः महीने पर की जाय तो इन तारों के बीच की दूरी घटती-बढ़ती दिखलाई पड़ेगी। कारण यह है कि छः महीने में पृथ्वी अपने स्थान से लगभग साढ़े अठारह करोड़ मील हट जाती है और इसलिए निकटतर तारे की दिशा में अवश्य कुछ परिवर्त्तन हो जाना चाहिए।

विधिपूर्वक जाँच करने से पता चला कि आकाश के बहुत-से तारे युग्म तारे हैं; कुछ में तो तीन या तीन से भी अधिक तारे हैं। संभावना-सिद्धान्त के आधार पर गणना करने से पता चला कि यदि तारे अनियमित रूप से आकाश में बिखरे होते तो इतने युग्म तारे आकाश में नहीं दिखलाई पड़ सकते। इसलिए अवश्य ही युग्म तारों में कोई भौतिक संबंध होगा, केवल इतना ही नहीं कि संयोगवश एक तारा दूसरे की सीध में स्थित है, चाहे दोनों एक दूसरे से बहुत दूरी पर हों। कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर युग्म तारों की जाँच फिर से की गई और तब बहुत-से युग्म तारों के दोनों साथियों में भौतिक संबंध रहने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। यह देखा गया कि एक तारा दूसरे की प्रदक्षिणा करता है।

कुछ तारों में दो विभिन्न अवयवों के रहने का और उनके बीच भौतिक संबंध रहने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि तारे का प्रकाश घटा-बढ़ा करता है, और प्रकाश ठीक इस प्रकार घटता-बढ़ता है मानों फीका तारा चटक तारे की प्रदक्षिणा करते-करते उसके सामने आकर उसके प्रकाश को छेंक लेता हो।

सुविधा के विचार से विभिन्न प्रकार के युग्मों के लिए विशेष नाम रख दिए गए हैं। वे तारे जो केवल संयोगवश एक ही दिशा में रहने के कारण एक दूसरे के पास दिखलाई पड़ते हैं, परंतु वस्तुतः एक दूसरे से बहुत दूर हैं, "चाक्षुस युग्म" कहलाते हैं। वे युग्म तारे जिनके अवयवों में भौतिक संबंध है और जो एक दूसरे के इतने समीप हैं कि दोनों गुरुत्वाकर्षण-नियम-बद्ध होकर एक दूसरे की प्रदक्षिणा करते हैं, "भौतिक युग्म" या "यमज" तारे कहलाते हैं। वे तारे जिनके अवयव एक दूसरे के इतने समीप हैं कि हमारे बड़े दूरदर्शकों में भी पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते, परंतु जिनको हम वर्णपटों की जाँच से जानते हैं कि वे यमज हैं, "वर्णपटीय यमज" कहलाते हैं। अंत में वे तारे, जिनको हम प्रकाश के विशेष रूप से घटने-बढ़ने के कारण यमज मानते हैं, "ग्रहणकारी यमज" कहलाते हैं।

## यमज या चाक्षुस?

यदि कोई तारा दूरदर्शक में युग्म जान पड़ता है तो प्रश्न उठता है कि वह यमज है या केवल चाक्षुस युग्म? यदि वर्षों तक बारंबार वेध करने पर पता चले कि युग्म का एक अवयव दूसरे के चारों ओर चक्कर लगा रहा है, अथवा यदि दोनों अवयवों की निजी गतियाँ एक ही हों, तो
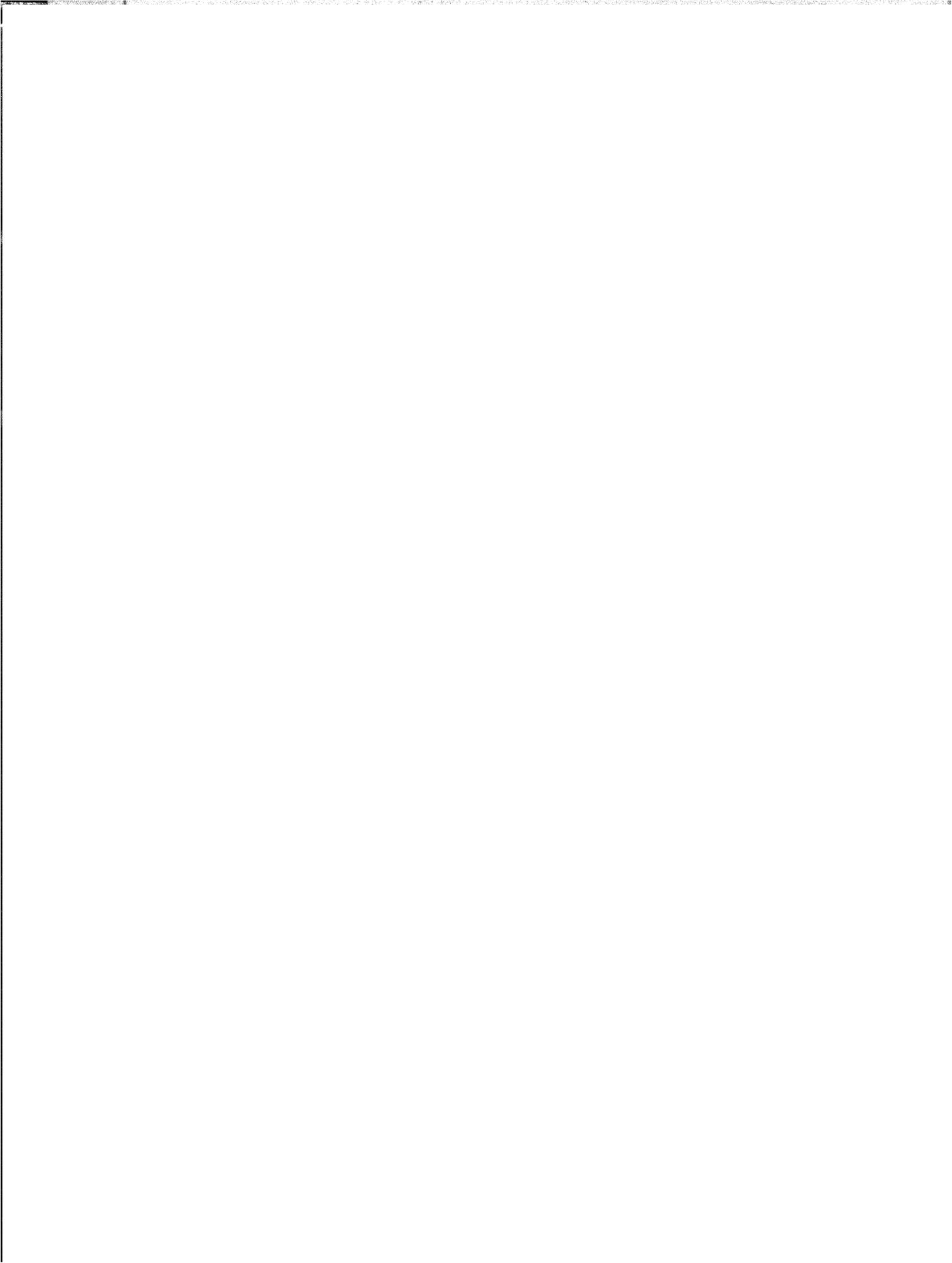
अवश्य ही वह तारा यमज होगा। परंतु यदि दोनों अवयवों की निजी गतियाँ विभिन्न हों तो तारा केवल चाक्षुस युग्म है। यदि अवयवों में निजी गति कुछ भी न हो तो यह पता चलाना कठिन होता है कि तारा यमज है या चाक्षुस युग्म, परन्तु तब भी संभावना यही रहती है कि तारा यमज है।

आँख से दिखलाई पड़नेवाले तारों में लगभग नवाँ हिस्सा युग्मों का है, अर्थात् नौ में से एक तारा ऐसा है कि दूरबीन में वह दोहरा दिखलाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि तारों का युग्म होना कोई विचित्र बात नहीं है। बहुत-से तारे युग्म होते हैं। त्रिगुण तारे भी (वे तारे जो दूरदर्शक में तीन अति समीप तारों के समूह जैसे दिखलाई पड़ते हैं) बहुत-से हैं और कुछ चतुर्गुण तारे भी हैं। कस्तूरी (क मिथुन) में ६ तारे हैं।

सौ से ऊपर यमजों की कक्षाओं की गणना की जा सकी है। ६ वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक में चक्कर लगानेवाले यमज मिले हैं। १०० से अधिक वर्षों में चक्कर लगानेवाले यमज भी हैं, परंतु इतनी मंथर गति से चलनेवाले तारों का चक्रकाल ठीक-ठीक जानना कठिन होता है। ऊपर कई बार यह लिखना पड़ा है कि युग्म तारों में से एक अवयव दूसरे की प्रदक्षिणा करता है, परन्तु कौन अवयव किसकी प्रदक्षिणा करता है ? सच बात तो यह है कि दोनों अवयव चक्कर काटते रहते हैं। उनका गुरुत्व-केन्द्र—अर्थात् उनको जोड़नेवाली रेखा पर वह विंदु जहाँ रस्सी बाँधकर लटकाने से वे समतुलित रहेंगे—स्थिर रहता है और दोनों अवयव इस विंदु की प्रदक्षिणा करते हैं। यदि इच्छा हो तो हम किसी एक अवयव को स्थिर मानकर उसकी ही अपेक्षा दूसरे अवयव की गति पर विचार कर सकते हैं। इसलिए यह कहना भी कि प्रत्येक तारा दूसरे की प्रदक्षिणा करता है अनुचित न होगा। यदि अवयवों में से एक अवयव दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा हो तो गुरुत्व-केन्द्र बड़े तारे के पास ही रहेगा और इसलिए ऐसा ही जान पड़ेगा कि छोटा अवयव बड़े की प्रदक्षिणा कर रहा है।

यमज तारे महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं कि हम उनके द्रव्यमानों की गणना कर सकते हैं—उनकी तौल जान सकते हैं। इस विषय पर पहले ही विचार किया जा चुका है।

### वर्णपटीय यमज

जब किसी तारे का प्रकाश शीशे के त्रिपार्श्व (शीशे की क़लम) में से होकर आता है तो प्रकाश फैलकर रंगीन वर्णपट में परिणत हो जाता है, जिसमें इंद्रधनुष के सभी रंग वर्त्तमान रहते है। अधिकांश वर्णपटों में काली रेखाएँ भी दिखलाई पड़ती है। तारा स्थिर रहेगा तब तक तो ये रेखाएँ निश्चित स्थानों में रहेंगी; परंतु यदि तारा हमसे दूर जाता रहेगा तो ये रेखाएँ एक ओर को कुछ हट जायँगी। यदि तारा हमारी ओर आता रहेगा तो रेखाएँ दूसरी ओर विचलित हो जायँगी। वस्तुतः रेखाओं के विचलन को नापकर हम बतला सकते हैं कि तारा किस वेग से हमारी ओर आ रहा है अथवा हमसे दूर भाग रहा है।

यदि किसी यमज के अवयव एक दूसरे के बहुत समीप हों तो अवयवों का वेग अधिक होगा, क्योंकि अवयव जितने ही अधिक समीप रहते हैं वे उतने ही अधिक वेग से नाचते हैं। यदि दोनों अवयव प्रकाशमान हों तो दोनों के वर्णपट बनेंगे, परंतु जब एक तारा हमारी ओर आता रहेगा तो दूसरा हमसे दूर जाता रहेगा। परिणाम यह होगा कि वर्णपट की काली रेखाएँ जब एक तारे के लिए दाहिनी ओर हटेंगी तो दूसरी के लिए बाईं ओर। इस प्रकार वर्णपट में प्रत्येक काली रेखा दोहरी हो जायगी और हमें पता चल जायगा कि तारा इकहरा नहीं, यमज है। तब चक्रकाल, द्रव्यमान आदि का भी पता सुगमता से चल जायगा।

आँका गया है कि आकाश में कई हज़ार भौतिक यमज तारे होंगे। कई सौ तारों की कक्षा आदि का हमें पूर्ण ज्ञान हो गया है। इनके चक्रकाल सवा दो घंटे से लेकर दस-पंद्रह साल तक निकले हैं। निस्संदेह, भविष्य में, जब हमारे यंत्रों की शक्ति और बढ़ जायगी, हम अनेक दूसरे तारों के भी युग्म होने का प्रमाण पाएँगे।

### ग्रहणकारी यमज

बहुत पहले से लोगों ने देखा था कि अलगूल (ख तिमि) नामक तारे की चमक घटा-बढ़ा करती थी। सन् १७८२ ई० में एक ज्योतिषी ने पता चलाया कि अलगूल की चमक नियमित रूप से घटती-बढ़ती है। २ दिन ११ मिनट तक चमक स्थिर रहती है और तब घटने लगती है। पाँच घंटे में प्रकाश घटकर पहले का एक तिहाई ही रह जाता है। इसके बाद प्रकाश पाँच घंटे में बढ़कर फिर पहले-जैसा हो जाता है। प्रकाश के घटने-बढ़ने के ढंग से यह निश्चित है कि इस तारे में दो अवयव हैं और जब मन्द अवयव दूसरे के सामने आ जाता है तो प्रकाश घट जाता है। इसलिए अलगूल ग्रहणकारी यमज है। आकाश

में लगभग २०० तारे इस प्रकार के हैं। जब दोनों अवयवों की चमकों में अधिक अन्तर नहीं रहता तब एक चक्रकाल में दो बार प्रकाश घटता है—एक बार तब जब गौण तारा प्रधान के सामने आ जाता है और एक बार फिर तब जब गौण तारा प्रधान तारे के पीछे जा छिपता है। इन दोनों अवसरों पर प्रकाश उतना ही नहीं घटता। जब गौण तारा प्रधान के सामने आ जाता है तब प्रकाश अधिक घटता है। चमक के घटने-बढ़ने के लेखा-चित्र (ग्राफ़) से तथा वर्णपट-प्रदर्शक की सहायता लेने से ग्रहणकारी यमजों के अवयव-तारों का सापेक्षिक व्यास, उनकी चमक और दूरी आदि सबका पता चल सकता है। कुछ ग्रहणकारी यमज इसी पृष्ठ के चित्र में दिखलाए गए हैं।

**कुछ ग्रहणकारी यमज**

(क) 'ख रथी'; (ग) 'U वृषपर्वा'; (घ) 'RT ययाति'; (च) 'TX शर्मिष्ठा'। चित्र में उपरोक्त यमजों में से प्रत्येक के दोनों अवयवों के तुलनात्मक आकार, उनकी एक-दूसरे के प्रति सापेक्षिक स्थिति, भ्रमण-कक्षा तथा किस प्रकार एक की आड़ में दूसरे के आ जाने से ग्रहण-सा लग जाता है और फलतः चमक घट जाती है यह दिखाया गया है। इन नक्षत्रों के आकार की तुलना के लिए 'ख' द्वारा सूर्य का आकार निर्दशित दिया गया है। [ यह चित्र रसेल, डग्गन और स्टीवर्ट की 'एस्ट्रॉनामी' नामक पुस्तक के आधार पर बनाया गया है ]

## परिवर्त्ती तारे

केवल ग्रहणकारी तारे ही ऐसे नहीं हैं जिनकी चमक घटती-बढ़ती रहती है। बहुत-से अन्य तारे हैं जिनकी चमक घटती-बढ़ती है और इस ढंग से कि वे ग्रहणकारी यमज नहीं हो सकते। कुछ फीके तारे तो एकाएक इतने चमक उठते हैं कि सभी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। ऐसे तारे बहुधा "नूतन तारे" कहलाते हैं, क्योंकि चमक उठने के पहले अधिकतर वे इतने मन्द रहते हैं कि उनके अस्तित्व की ओर किसी का ध्यान नहीं गया रहता। १३४ ई० पू० में इसी प्रकार के एक नवीन तारे को यूनानी ज्योतिषी हिपार्कस ने देखा। तब उसने ज्ञात तारों की सूची रखने की आवश्यकता अनुभव की और इस प्रकार प्रथम तारा-सूची बनी।

हारवार्ड वेधशाला में समय-समय पर तारों के फ़ोटोग्राफ़ लिये जाते हैं। एक ही क्षेत्र के दो समय पर लिये गए इन फोटोग्राफ़ों की तुलना से परिवर्त्तनशील चमक के तारों का ज्ञान तुरन्त हो जाता है। अधिकांश परिवर्त्ती तारों का पता इसी प्रकार लगा है। ज्ञात परिवर्त्ती तारों की संख्या ५,००० से अधिक है। परन्तु विधिपूर्वक खोज न होने के कारण अवश्य ही इससे कहीं अधिक परिवर्त्ती तारे होंगे। बर्लिन-बाबेल्सबर्ग वेधशाला ने परिवर्त्ती तारों की बृहद् सूची छापी है और इसकी पूर्त्ति के लिए (लड़ाई के पहले) नवीन परिवर्त्ती तारों की सूची प्रति वर्ष छपा करती थी।

जब किसी परिवर्त्ती तारे का प्रथम बार पता चलता है

तब ज्योतिषीगण उसकी चमक को नापने या आँकने का कार्य आरम्भ कर देते हैं और कुछ समय में चमक के घटने-बढ़ने का नियम ज्ञात हो जाता है। इस कार्य में अव्यवसायी ज्योतिषी ( वे जो वेतनभोगी नहीं हैं और केवल अवकाश के समय शौक़ के लिए ज्योतिषिक वेध करते हैं ) बहुत उपयोगी कार्य कर सके हैं। अमेरिका में 'परिवर्त्ती तारा-वेधकों का अमेरिकन संघ' बना है, जिसके सदस्य संगठित रूप से इस कार्य को करते हैं। वेध करना सरल है, क्योंकि ज्ञात तारों की तुलना में इष्ट तारा कितना चमकीला है—किन-किन तारों से अधिक और किन-किन से कम चमकीला है—बस इतना ही देखना रहता है। परन्तु चमक को इतनी बार और इतने समय तक आँकना पड़ता है और संसार में व्यवसायी ज्योतिषी इतने कम हैं और वे इतने विभिन्न कार्यों में फँसे हैं कि बिना अव्यवसायी ज्योतिषियों की सहायता के काफ़ी काम नहीं हो पाता।

**परिवर्त्ती तारों के बारे में क्या सीखा गया है ?**

किसी तारे की चमक स्थायी रूप से घटती या बढ़ती चली जाय इसका उदाहरण अभी तक नहीं मिला है। जहाँ तक पता चला है, बहुत-से तारों की चमक घटती-बढ़ती रहती है, कुछ में तो नियमित रूप से और कुछ में अनियमित रूप से। नियमित रूप से परिवर्त्तन होनेवाले तारों में एक तो ग्रहणकारी तारे हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। शेष ( लगभग १०००*) तारों की चमक अन्य कारणों से घटती-बढ़ती है, परन्तु उनमें भी एक नियत चक्रकाल होता है, जिसके बाद तारे की चमक फिर पहले जैसी हो जाती है और चमक फिर पहले के क्रम से घटती या बढ़ती है। अनियमित रूप से घटने-बढ़नेवालों में एक तो नूतन तारे हैं, जो साधारणतः वे पुराने तारे होते हैं जिनकी चमक एकाएक बहुत बढ़ जाती है और तब धीरे-धीरे बहुत समय तक घटती रहती है, और शेष ( लगभग १५० ) वे तारे हैं जिनके लिए कोई नियत चक्रकाल नहीं है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि परिवर्त्ती तारे सभी दैत्य तारे हैं। ग्रहणकारियों को छोड़ अन्य परिवर्त्तियों की चमक के घटने-बढ़ने का कारण ठीक ज्ञात नहीं है, परन्तु कुछ में स्पष्ट जान पड़ता है कि तापक्रम के घटने-बढ़ने के कारण प्रकाश घटता-बढ़ता है, क्योंकि साथ-साथ तारे के रंग, वर्णपट आदि में भी चमक के अनुसार ही परिवर्त्तन होता है।

**सीफ़िआइड परिवर्त्ती**

नियमित परिवर्त्तियों में 'सीफ़िआइड परिवर्त्ती' बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका प्रकाश साधारणतः कुछ शीघ्र बढ़ता है और तब कुछ अधिक समय में धीरे-धीरे घटता है। तारे की चमक में साधारणतः एक श्रेणी से कम ही अंतर पड़ता है। वर्णपट में भी साथ-साथ अंतर पड़ता जाता है। परंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सीफ़िआइडों में चक्रकाल और वास्तविक चमक में संबंध रहता है। चक्रकाल १२ घंटे से लेकर १०० दिन तक हो सकता है, परंतु ये सब सीफ़िआइड एक ही नियम से बद्ध हैं। इससे लाभ यह होता है कि सीफ़िआइड कहीं भी हो, केवल उसके प्रकाश-परिवर्त्तन के चक्रकाल को देखकर हम उसकी वास्तविक चमक जान सकते हैं। फिर प्रत्यक्ष चमक को नापकर हम तारे की दूरी बहुत सचाई से जान सकते हैं और दूरी का ज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। कई तारापुंजों में—तारों के उन गुच्छों में जो दूरदर्शक से देखने पर हज़ारों तारों के झुंड जान पड़ते हैं—बहुत से सीफ़िआइड भी हैं। इससे उन तारा-पुंजों की दूरी हमें ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार सीफ़िआइड वे भेदिया हैं, जो आकाश के दूरतम पिंडों की स्थिति हमें बता देते हैं।

सीफ़िआइडों की चमक में क्यों परिवर्त्तन हुआ करता है, इस पर बहुत विचार किया गया है। वर्त्तमान सिद्धान्त यह है कि ये तारे अभी वायव्य रूप में हैं और जिस प्रकार घड़ी का लंगर अपनी समतुलन स्थिति—खड़ी दिशा—से हटाए जाने पर इधर-उधर दोलन करता रहता है, उसी प्रकार ऐसा तारा, जो तप्त गैसों का गोला है, अपने समतुलन की स्थिति—एक निश्चित नाप के गोले—के इधर-उधर दोलन करता है। दोलन कैसे आरंभ हुआ था यह दूसरी बात है, परंतु एक बार दोलन उत्पन्न होने से वह बहुत समय तक चलता रहेगा यह निश्चित है। आलंकारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि इन दैत्य तारों का पेट फूलता-पिचकता रहता है, मानों वे साँस लेते हों। उनके शरीर के इस घटने-बढ़ने के कारण उनकी चमक भी घटती बढ़ती रहती है।

हमारा ध्रुव तारा भी सीफ़िआइड है और इसका चक्रकाल लगभग चार दिन है, परंतु उसकी चमक में इतना कम परिवर्त्तन होता है ( कुल मिला कर ०.०८ श्रेणी ) कि बिना सूक्ष्म नापों के इसका पता हमें चल ही नहीं सकता।

**दीर्घकालिक परिवर्त्ती**

सीफ़िआइडों और ग्रहणकारियों को छोड़ अन्य नियमित परिवर्त्तियों में वे प्रमुख हैं, जिनको दीर्घकालिक परिवर्त्ती कहा जाता है। इनका चक्रकाल लगभग ३०० दिन होता

* संख्याएँ सन् १६२१ की सूची के अनुसार दी गई है।

है, यद्यपि व्यक्तिगत तारों के चक्रकाल ५०-६० दिन से लेकर २ वर्ष तक होते हैं। इनमें विशेषता यह है कि चमक की कमी-बेशी बहुत अधिक होती है। इनमें से सबसे प्रसिद्ध तारा मीरा ( द तिमि ) है। महत्तम चमक पर यह तारा तीसरी या चौथी श्रेणी का-सा हो जाता है और आकाश के उस क्षेत्र में जहाँ यह है सबसे अधिक चमकीला जान पड़ता है, परंतु लघुतम पर यह नवीं श्रेणी का हो जाता है और केवल दूरदर्शक से ही देखा जा सकता है। चक्रकाल थोड़ा-बहुत घटता-बढ़ता है। चक्रकाल का

२२ मई, १८८८ ई०

३ जून, १९१८ ई०

७ जून, १९१८ ई०

८ जून, १९१८ ई०

**गरुड़ तारा-समूह का सन् १९१८ वाला नूतन तारा**

ऊपर बाईं ओर २२ मई, सन् १८८८ ई० के दिन लिया गया इसी तारे का एक फ़ोटो है, तदनंतर जून १९१८ ई० की क्रमशः ३, ७ और ८ तारीख़ों के दिन लिये गए उसी के फ़ोटो प्रदर्शित हैं। देखिए, दो दिनों ही में यह तारा एकाएक प्रज्वलित होकर कितना अधिक चमकीला हो उठा था! चित्र में तारे के आसपास का बिम्ब तथा घड़ी की सुई जैसी खड़ी रेखा वास्तविक नहीं है, ये चीज़ें फ़ोटो लेने के यंत्र-संबंधी कुछ विशेष उपकरणों के कारण चित्र में आ गई हैं।

मध्यम मान ( औसत ) ३३० दिन है। चमक क्यों घटती-बढ़ती है इसका अभी कुछ पता नहीं है, परंतु संभव है कि सीफ़िआइडों की तरह दीर्घकालिक परिवर्त्तियों में भी दोलन होता हो, यद्यपि कुछ अज्ञात कारणों से सिद्धान्त और वेध में पूर्ण एकता अभी स्थापित नहीं हो पाई है। दीर्घकालिक परिवर्त्ती भी दैत्य तारे होते हैं।

## नूतन तारे

कभी-कभी आकाश में नवीन तारे दिखलाई पड़ जाते हैं। ये साधारणतः अत्यंत मंद साधारण तारे होते हैं, जो एकाएक चमक उठते हैं और फिर धीरे-धीरे मंद हो जाते हैं। 'ययाति' तारा-समूह का सन १९०१ वाला नूतन तारा पहले १३वीं श्रेणी का था, अर्थात् वह इतना फीका था कि केवल बड़े ही दूरदर्शक से देखा जा सकता था, परंतु महत्तम चमक पर वह अभिजित तारे के समान चमकीला हो गया। 'गरुड़' तारा-समूह का सन् १९१८ वाला नूतन तारा पहले ११वीं श्रेणी का था, अर्थात् केवल अच्छे दूरदर्शक से ही देखा जा सकता था, परंतु महत्तम चमक पर यह लगभग लुब्धक के समान चमकीला हो गया, जो आकाश का सबसे चमकीला तारा है। 'शर्मिष्ठा' तारा-समूह का सन् १५७२ वाला नूतन तारा कुछ समय तक तो इतना चमकीला था कि वह शुक्र की महत्तम चमक की बराबरी कर सकता था और दिन में भी दिखलाई पड़ता था। इस नूतन तारे का नाम टाइको-तारा पड़ गया है, क्योंकि इसको टाइको ब्राही ने देखा था। यह तारा धीरे-धीरे मंद होकर सोलह महीने बाद अदृश्य हो गया। उस समय दूरदर्शक का आविष्कार नहीं हुआ था, नहीं तो संभवतः वह हमें बराबर दिखलाई पड़ता और हम आज भी बतला सकते कि वह कौन-सा तारा था जो टाइको के समय में इतना चमक उठा था।

एक दूसरा प्रसिद्ध नूतन तारा वह है जो सन् १६०४ में 'गरुड़' तारा-समूह में दिखलाई पड़ा था। इसको केपलर ने

देखा था। यह तारा कुछ सप्ताह तक बृहस्पति के समान चमकीला रहा; फिर मंद पड़ गया, तो भी लगभग दो वर्षों तक कोरी आँख से दिखलाई पड़ता रहा।

जब किसी मंद तारे की चमक बढ़ने लगती है तो वह बड़े वेग से बढ़ती है। साधारणतः दो-तीन दिन में चमक महत्तम तक पहुँच जाती है। 'गरुड़' तारा-समूह के १६१८ वाले नूतन तारे की चमक आधे घंटे में आधी श्रेणी बढ़ गई। फिर २४ घंटे में चार-पाँच श्रेणी का अंतर पड़ गया; अर्थात् एक दिन में वह तारा पहले की अपेक्षा सौ गुना अधिक चमकीला हो गया।

सन् १६२५ में 'चित्रकार' तारा-समूह का एक नूतन तारा (Nova Pictoris) एकाएक प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित होकर दो भागों में विभाजित होते देखा गया था, जिससे ज्योतिषियों को बड़ा कुतूहल और आश्चर्य हुआ था। यह पहला ही मौका था जब कि आधुनिक ज्योतिषी को अपनी आँखों से किसी तारे को प्रत्यक्ष रूप में विभाजित होकर दो यमज पिण्डों में परिवर्त्तित होते देखने को मिला था। यह तारा पृथ्वी से लगभग ५०० प्रकाश-वर्ष की दूरी पर था, अतएव उसके इस प्रकार भड़ककर दो पिण्डों में विभाजित हो जाने की घटना का पता पृथ्वी पर पाँच सौ वर्ष बाद लग पाया, क्योंकि प्रकाश को उक्त तारे से पृथ्वी तक आने में इतने ही वर्षों का समय लगा होगा! यह नूतन तारा १२०००,००० मील प्रतिदिन की गति से फूला था, यहाँ तक कि अल्पकाल ही में उसका आकार फूलकर ज्येष्ठा (Antares) जैसे बृहद् दैत्य तारे के आकार के लगभग बढ़ गया था!

अनुमान किया जाता है कि नवीं श्रेणी से अधिक चमकीले नूतन तारों की संख्या प्रति वर्ष दस और बीस के बीच होती होगी। इस प्रकार नूतन तारे कोई विरली वस्तु नहीं हैं; हाँ, ऐसे नूतन तारे जो कोरी आँख से दिखलाई दें कभी-ही-कभी दिखलाई पड़ते हैं।

नूतन तारों की उत्पत्ति का क्या रहस्य है, इसका पूर्णतया संतोषजनक उत्तर अभी नहीं प्राप्त हो सका है। तारों के भड़क उठने के बाद वे फिर कुछ समय में पूर्ववत् हो जाते हैं; इससे यह सिद्ध होता है कि तारों में कोई चिरस्थायी परिवर्त्तन नहीं होता। संभवतः उनमें से कोई ज्वलंत गैस निकल पड़ती होगी, जैसे हमारे सूर्य से उद्गारी ज्वालाएँ निकला करती हैं, परंतु इनसे कहीं अधिक बड़े पैमाने पर। क्यों ऐसा होता है यह कहना कठिन है। हो सकता है कोई अन्य पिंड उस तारे के पास आ जाता हो और गुरुत्वाकर्षण से दोनों में मुठभेड़ हो जाती हो। परंतु संभावना-सिद्धांत से पता चलता है कि तारों में मुठभेड़ें इतनी अधिक संख्या में न हो पाती होंगी, जितने नूतन तारे प्रति वर्ष दिखलाई पड़ते हैं। नवीन भौतिक विज्ञान के अनुसार परमाणुओं में बहुत-सी शक्ति भरी रहती है, जो परमाणुओं के विनाश से ताप, प्रकाश आदि के रूप में प्रकट हो सकती है। वस्तुतः, नवीन भौतिक विज्ञान का विश्वास है कि ताप और द्रव्य एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप हैं और एक को दूसरे में परिणत करना संभव होना चाहिए। द्रव्य के जलने की वहाँ बात नहीं है; परमाणुओं के सीधे ताप में परिणत होने की बात है। संभव है कि तारों पर वहाँ की भयंकर गरमी, चाप आदि के कारण ऐसा परिवर्त्तन आप से आप होता हो; और यदि यह धारणा ठीक है तो नूतन तारों का जन्म परमाणुओं की शक्ति के फूट पड़ने से होता होगा। इस विस्फोट का कारण यह हो सकता है कि विश्व में सदा दौड़ते रहनेवाले असंख्य पिंडों में से कोई छोटा पिंड उस तारे पर आकर गिर पड़े! परंतु अभी यह लाल-बुझक्कड़ की ही सूझ है।

तारों के इस प्रकार एकाएक भड़क उठने की यह क्रिया इतनी सामान्य है कि प्रायः १ खरब वर्ष में प्रत्येक तारे के जीवन में एक बार ऐसी घटना का घटित होना संभव है। इसी मत के अनुसार यह भी अनुमान किया जाता है कि हमारा सूर्य भी कभी न कभी इसी प्रकार फूलकर भड़क उठेगा। उस समय हमारी पृथ्वी तो उसके प्रचण्ड उत्ताप से इसी प्रकार जल जायगी जैसे किसी भट्टी में कपूर की डली का हाल होता है। परन्तु इससे हमें घबड़ाने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि यदि कभी यह बात हुई भी तो अभी कम से कम दस करोड़ वर्ष तक इसके घटित होने की कोई भी सम्भावना नहीं।
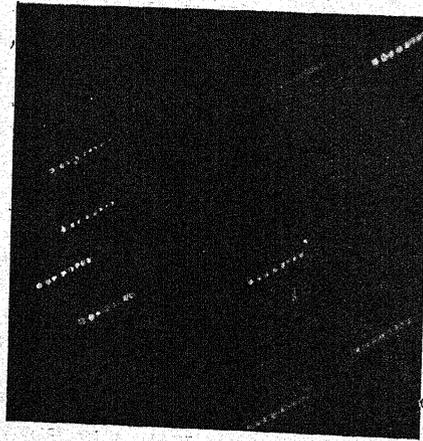
इस फ़ोटो में बाईं ओर के निचले कोने में 'U वृषपर्वा' नामक ग्रहणकारी यमज की चमक घटते-बढ़ते दिखाई दे रही है। इस प्रकार का फ़ोटो लेने के लिए एक ही प्लेट पर काफ़ी समय तक प्रकाश-दर्शन कराया गया था।

# विद्युत्-शक्ति

**प्रस्तुत लेख द्वारा हम भौतिक विज्ञान के उस महत्त्वपूर्ण अंग—विद्युत-शक्ति—के अध्ययन की ओर अब अग्रसर हो रहे हैं, जिसकी जादूभरी लीलाओं के बल पर मनुष्य ने अपने आज के युग को मानों यंत्रों द्वारा जकड़कर एक नया ही रूप दे डाला है ! अभी इस स्तंभ के अंतर्गत अगले कई प्रकरणों तक इस विषय का हमारा अध्ययन जारी रहेगा—प्रस्तुत लेख तो इस लेखमाला की एक प्रारंभिक प्रस्तावना मात्र है !**

सौ सवा सौ वर्ष पहले कदाचित् स्वप्न में भी किसी को अनुमान नहीं हो सकता था कि मनुष्य के हाथ में एक ऐसी शक्ति आनेवाली है जो कोयला, हवा तथा पानी के झरनों को अपने वश में करके सैकड़ों मील की दूरी पर तरह-तरह की मशीनों का सञ्चालन करेगी ! किन्तु आज बीसवीं सदी का यह युग इसी शक्ति—विद्युत्—के प्रभाव से मानों ओतप्रोत-सा हो रहा है।

आज के मानव ने इस अद्भुत शक्ति की सहायता से अपने चारों ओर के वातावरण को पूर्णतया बदल डाला है। सैकड़ों मील की दूरी पर बिजली उत्पन्न करके पतले तारों द्वारा उसे बड़े-बड़े शहरों तथा देहातों में पहुँचाकर उसने उससे बीसियों तरह के काम लेना शुरू किया है। विद्युत् की सहायता से वह आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली रोशनी पैदा करता है, हज़ारों अश्वबल के इंजिनों का
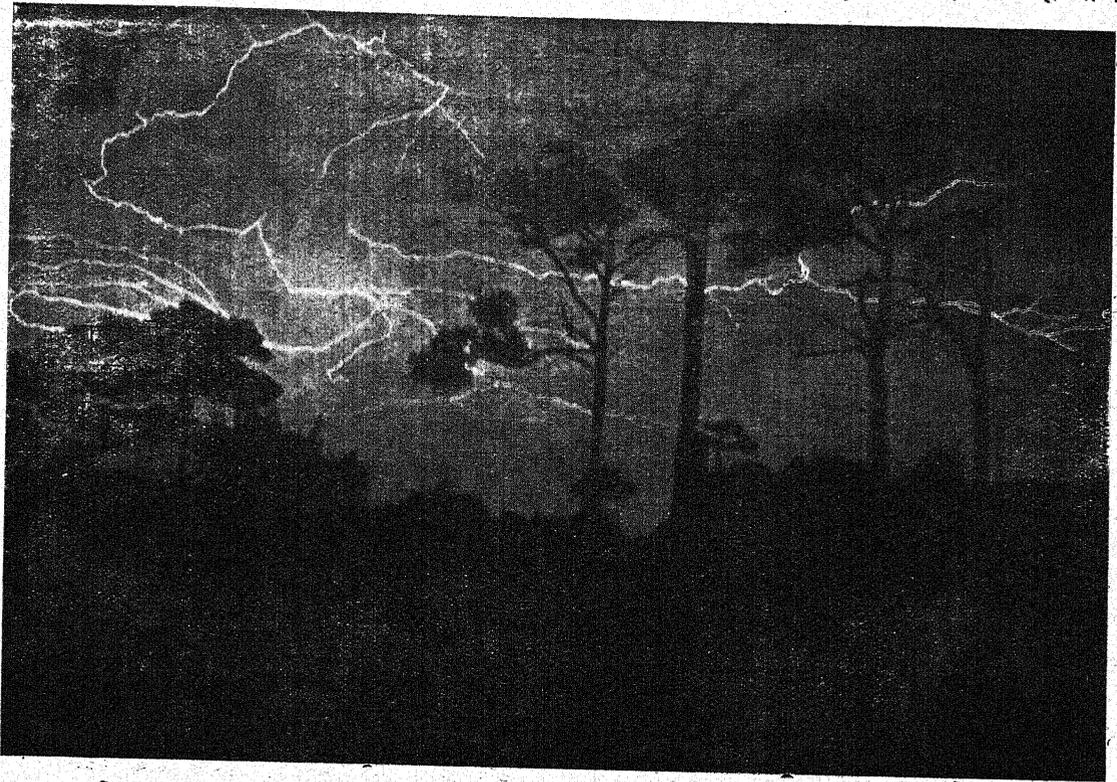
प्रकृति के क्षेत्र में विद्युत् की रहस्यमयी शक्ति का प्रत्यक्ष प्रदर्शन—आकाश में कौंधती हुई बिजली
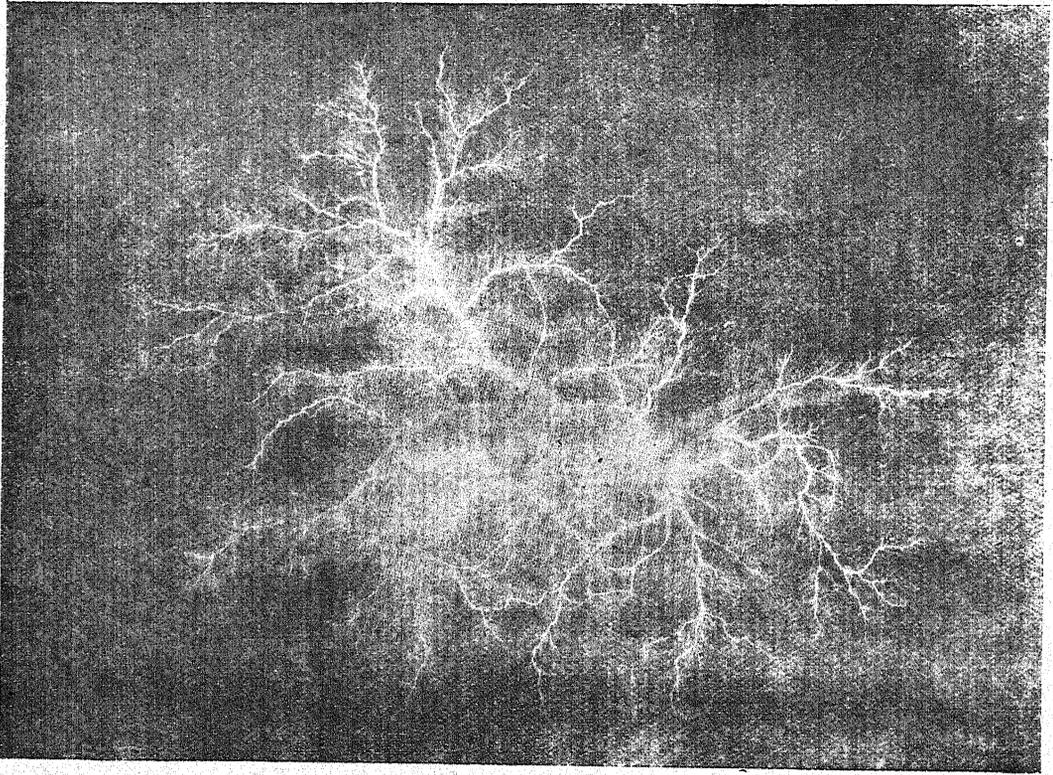
**मनुष्य द्वारा उत्पादित विद्युत् और प्राकृतिक रूप में दमकनेवाली आकाशीय बिजली की कौंध में कितनी समानता है, यह प्रस्तुत चित्र को पिछले पृष्ठ के फ़ोटो से मिलाकर आप जान सकते हैं। यह एक साधारण बिजली के तार से उत्पन्न विद्युत्-द्युति का फ़ोटोग्राफ़ है ।**

सञ्चालन करता है, बिजली ही से वह भट्टी में हद दर्जे की गर्मी उत्पन्न करता है तथा घर के झाड़ू लगाने से लेकर चूल्हा जलाने और चक्की चलाने तक के काम लेता है। विद्युत्-शक्ति की ही बदौलत आज मनुष्य टेलीफ़ोन पर हज़ारों मील की दूरी पर बातचीत करने में समर्थ होता है, रेडियो पर बिना तार की मदद से संसार के किसी भी कोने से दूसरे कोने तक क्षण मात्र में समाचार भेज सकता है तथा टेलिवीज़न में इस शक्ति का प्रयोग करके घर बैठे ही सैकड़ों मील के फ़ासले पर होनेवाली घटनाओं को तत्काल ही देख सकने में भी समर्थ होता है। विद्युत्-शक्ति की सहायता से ऐसी तीव्र किरणें उत्पन्न की जा सकती हैं, जो आपके शरीर ही को नहीं बल्कि लोहे की चादरों को भी पार कर जाती हैं !

यह शक्ति इतनी ज़बर्दस्त है कि लम्बी-लम्बी ट्रेनों को भी तेज़ रफ़्तार से खींच सकती है, साथ ही छोटे-छोटे बारीक कामों को भी वह बखूबी पूरा कर सकती है। उदाहरण के लिए यह शक्ति उस्तरे से आपकी दाढ़ी भी साफ़ कर सकती है तथा यंत्रों द्वारा कपड़े पर सुन्दर बारीक़ बेलबूटे तक काढ़ सकती है !

बिजली के पंखे और स्टोव आदि से तो आप परिचित होंगे ही, अब विद्युत्-धारा से आपका लिहाफ़ भी गर्म किया जाने लगा है ! लिहाफ़ के भीतर महीन तार की एक जाली रख दी जाती है ! इस जाली को एसबेस्टस की खोल के अन्दर रखते हैं, ताकि लिहाफ़ जल न जाय। विद्युत्-धारा जब इस जाली में प्रवाहित होती है, तब लिहाफ़ धीरे-धीरे खूब गर्म हो जाता है। विद्युत् से इस तरह कोट भी गर्म किए जाते हैं। आठ दस मील की ऊँचाई पर जिस समय वायुयान उड़ता है, वायुयान-संचालक को भयानक सर्दी का सामना पड़ता है। इस अवसर पर विद्युत्-शक्ति से गरम किए जानेवाले कोट की सहायता से ही वह अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है।

टॉर्च की बैटरी आप हर महीने बदलते हैं, किन्तु अब ऐसे टॉर्च बनने लग गए हैं, जिनके लिए बैटरी की आवश्यकता ही नहीं होती। ऐसे टॉर्च में एक कमानी
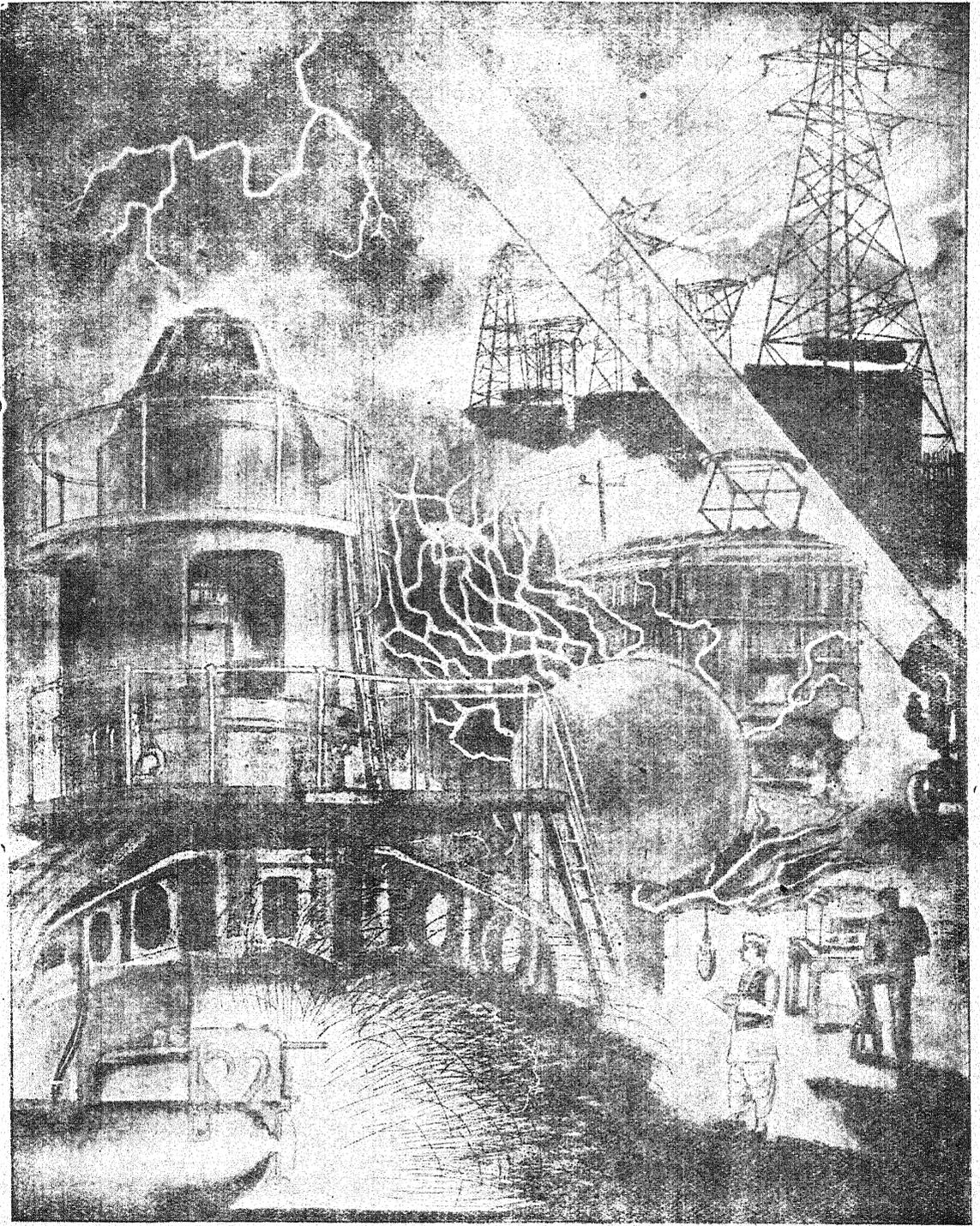
**विद्युत् द्वारा प्रकृति पर विजय**

विद्युत्-शक्ति के रूप में मनुष्य ने प्रकृति को अपनी दासी बना लेने की मानों एक अमोघ कुंजी पा ली है और उसी के बल पर तार, टेलीफोन, विद्युत् लैम्प, रेडियो, वायरलेस, विद्युत्-रेलगाड़ी आदि, आदि सैकड़ों विचित्र आविष्कार प्रस्तुत कर इस बीसवीं सदी को यथार्थ में एक यंत्र-युग में परिणत कर दिया है ! ऊपर के चित्र में बिजली के बल पर मनुष्य द्वारा खड़ी की गई नई दुनिया की एक झलक आप देख सकते हैं ।

लगी होती है, जिसके दबाने से उसके भीतर ही एक छोटा-सा डायनमो चलने लगता है, जो टॉर्च के बल्ब में रोशनी पैदा करने के लिए विद्युत्-धारा उत्पन्न करता है।

'फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेल' नामक विद्युत्-यंत्र से इञ्जीनियरों ने आश्चर्यजनक करतब कर दिखाए हैं। ये फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेलें मानों जादू की आँखें हैं। फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेल प्रकाश की किरणों से प्रभावित होती हैं। जब प्रकाश की किरणें सेल पर पड़ती हैं तो उसमें बिजली की धारा प्रवाहित होने लगती है। फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेल का प्रयोग सबसे पहले योरपवालों ने सड़कों पर रोशनी बुझाने और जलाने के लिए किया था। शाम को अँधेरा होने पर सेल की विद्युत्-धारा एकाएक रुक जाती है, फलस्वरूप सड़क के लैम्प का स्विच खुल जाता है और सड़क के तमाम खम्भों के लैम्प अपने आप जल उठते हैं! प्रातःकाल उजेला होते ही सेल में फिर विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है और तब स्विच बन्द हो जाता है और लैम्प अपने आप बुझ जाते हैं।

योरप के बड़े-बड़े होटलों में दरवाज़ा खोलने के लिए भी इन फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेलों का ही प्रयोग अब होने लगा है। दरवाज़े से दो क़दम की दूरी पर एक ओर एक लैम्प रखा रहता है, जिसकी पतली किरणें दूसरी तरफ़ रखी हुई सेल पर पड़ती हैं। कोई व्यक्ति जब दरवाज़े की ओर अग्रसर होता है तो एक क्षण के लिए सेल पर उसकी छाया पड़ती है। फ़ौरन् ही सेल की विद्युत्-धारा थोड़ी देर के लिए रुक जाती है और दरवाज़े को खोलनेवाले यंत्र का स्विच खुल जाता है। इस प्रकार दरवाज़ा अपने आप खुल जाता है।

चोर-डाकुओं से माल की रक्षा करने के निमित्त भी इस अद्‌भुत सेल की सहायता ली गई है। तिजोरी के पास ही अँधेरे में एक ओर यह सेल रखी रहती है। इस सेल पर दूसरी ओर से अल्ट्रा-वायलेट नामक अदृश्य किरणें पड़ती रहती हैं। रात के अँधेरे में जब चोर घर के भीतर घुसता है, तब वह समझता है कि चारों ओर अंधकार ही अंधकार है, उसे कोई देख नहीं रहा है। किन्तु ज्योंही वह तिजोरी के पास पहुँचता है, सेल की जादू की आँखें अपनी पलकें हिलाती हैं और फ़ौरन् ही आपके कमरे या पुलिस-दफ़्तर में खतरे की घण्टी बज उठती है।

रात की रोशनी का प्रश्न भी बिजली ने सफलतापूर्वक हल किया है। तीव्र प्रकाश के विद्युत्-लैम्प ने फ़ैक्टरियों और कारखानों में रात के समय भी दिन सरीखा प्रकाश उत्पन्न किया है, ताकि वहाँ २४ घण्टे बराबर काम होता रहे। शाम होते ही ज्योंही स्विच खोला गया त्योंही फ़ैक्टरी में चारों ओर दिन के समान उजेला फैल गया! बन्दरगाह पर भी सर्चलाइट की तेज़ रोशनी में हज़ारों टन का बोझा लिये हुए जहाज़ रात में निरापद विचरा करते हैं।

विशेष ढंग के बने हुए विद्युत्-लैम्प अँधेरे और तंग मकानों के अन्दर स्वास्थ्यप्रदायिनी अल्ट्रा-वायलेट किरणें भी हमें प्रदान करते हैं। इन रश्मियों से घर के अन्दर रहनेवालों को प्रायः वही लाभ होता है जो सूर्य्य की धूप में बैठने से हो। इस तरह बिजली के अल्ट्रा-वायलेट लैम्प ने हज़ारों घरों के अन्दर स्वास्थ्य का संदेश इन रश्मियों द्वारा पहुँचाया है। प्रयोगशाला के अन्दर भी तीव्र प्रकाश की सहायता से अणुवीक्षण यंत्र द्वारा वैज्ञानिक नन्हें-नन्हें कणों का निरीक्षण करके बहुमूल्य जानकारी प्राप्त करता है।

साधारण ढंग के विद्युत्-लैम्प में विद्युत्-शक्ति का लगभग ८० प्रतिशत भाग उष्णता उत्पन्न करने में व्यय हो जाता है। प्रकाश के रूप में केवल २० प्रतिशत विद्युत्-शक्ति ही हमें लभ्य हो पाती है। अतः इस अपव्यय को रोकने के लिए वैज्ञानिकों ने काफ़ी माथापच्ची की है। इस क्षेत्र में प्रकृति वैज्ञानिकों से कहीं आगे बढ़ी हुई है—जुगनू की रोशनी में उष्णता के रूप में शक्ति का तनिक भी अपव्यय नहीं होता। वैज्ञानिकों ने भी जुगनू ही की भाँति ठण्डी रोशनी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए शीशे की लम्बी नली में थोड़ी-सी गैस डालकर उसमें उच्च मान की विद्युत्-धारा प्रवाहित कराते हैं। ऐसी दशा में गैस गर्म नहीं होने पाती और लगभग समूची शक्ति प्रकाश के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है।

वायुयान-चालकों को सहायता पहुँचाने के लिए तेज़ रोशनीवाली सर्चलाइट भी बिजली ही से परिचालित होती है। संसार की सबसे बड़ी सर्चलाइट फ्रान्स में बनी है। इसकी रोशनी एक अरब मोमबत्तियों के प्रकाश के बराबर है। इसकी रोशनी पूरे तीस मील की दूरी तक पहुँचती है! समूचे लन्दन पर की रोशनी केवल १० लाख मोमबत्तियों की रोशनी के बराबर है। अब आप फ्रान्स की इस सर्चलाइट की रोशनी का अनुमान लगा सकते हैं। लन्दन और पैरिस के बीच वायुयानों के पथप्रदर्शन के लिए १० प्रकाश-स्तम्भ बने हुए हैं। रात को लन्दन से पैरिस जानेवाले वायुयानों को एक-न-एक प्रकाशस्तम्भ हर समय नज़र आता रहता है। इन प्रकाश-स्तम्भों का सारा काम स्वयंक्रिय होता रहता है। सूर्य्यास्त होने पर अपने आप इनके विद्युत्-लैम्प जल
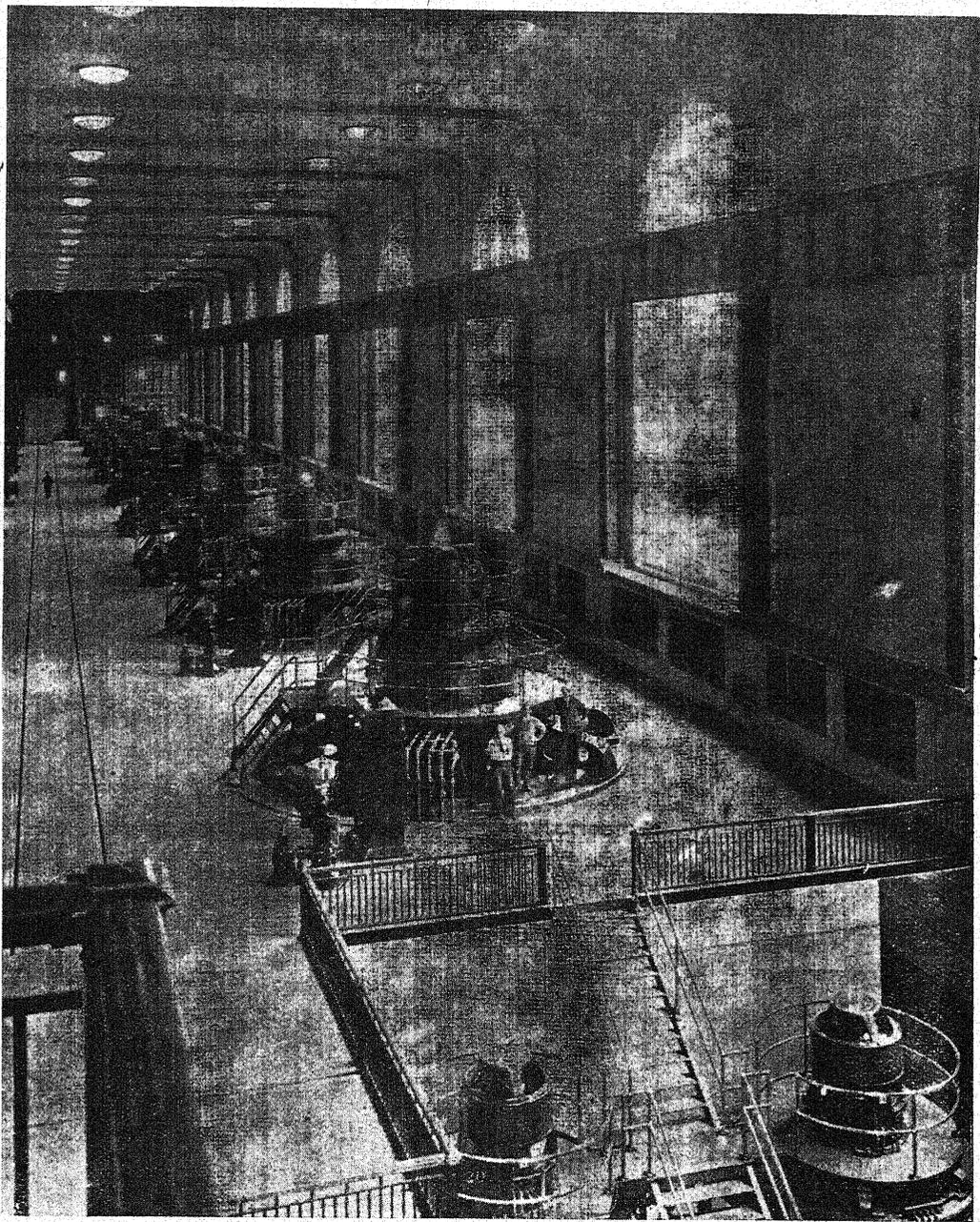
**विद्युत् उत्पन्न करने के एक आधुनिक विशाल कारख़ाने का दृश्य**

यह अमेरिका के सुप्रसिद्ध नायग्रा-जलप्रपात से बिजली पैदा करने के लिए क्वीन्स्टन नामक स्थान में प्रस्थापित विशाल बिजलीघर के भीतर का दृश्य है। चित्र में लम्बी क़तार में जो भीमकाय यंत्र लगे दिखाई दे रहे हैं, वे उन १० टरबाइन विद्युतोत्पादक यंत्रों के शीर्ष भाग हैं, जो प्रपात की जलशक्ति द्वारा संचालित होकर ५५०,००० अश्वबल से अधिक शक्ति का विकास कर लगभग ११०००० वोल्ट बिजली पैदा करते हैं। यह बिजली तार द्वारा २५० मील से भी अधिक दूरी तक के स्थानों को पहुँचाई गई है !
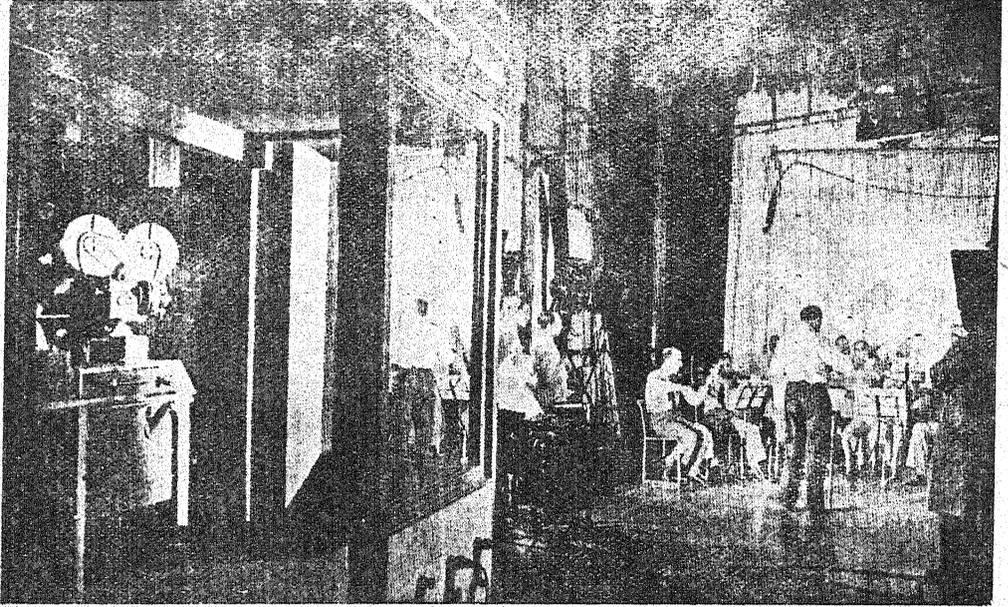
**विद्युत्-शक्ति का एक नया चमत्कार—टेलिवीज़न या दूरदर्शन**

**यह लन्दन के सुप्रसिद्ध एलेक्ज़ेंड्रा राजप्रासाद में प्रस्थापित टेलिवीज़न के स्टूडियो का दृश्य है। बाईं ओर के कोने में वह विद्युत्-यंत्र रक्खा हुआ है, जिसकी सहायता से स्टूडियो के संगीत के साथ-साथ निर्धारित दृश्य भी बेतार की सहायता से सैकड़ों मील दूर तक ब्रॉडकास्ट किया जाता है।**

उठते हैं और सूर्योदय होने पर रोशनी स्वयं बुझ जाती है। अमेरिका में एक नए ढंग की सर्चलाइट तैयार की गई है। रोशनी को दूर तक फेंकने के लिए उसमें लेन्स या दर्पण की मदद नहीं ली जाती, अतः इसकी रोशनी से आँखों में चकाचौंध नहीं उत्पन्न होती, फिर भी एक मील की दूरी पर आप इसकी रोशनी में समाचारपत्र आसानी से पढ़ सकते हैं।

फ़ैक्टरी-कारखानों की अनेक समस्याओं को भी विद्युत्-शक्ति ने हल किया है। उदाहरण के लिए कारखानों की भट्टियाँ विशेष तप्त होती हैं। इनके तापक्रम को नापने के लिए साधारण कोटि के पारे के थर्मामीटर काम में नहीं लाये जा सकते, क्योंकि भट्टी में डालते ही थर्मामीटर की काँच की नली पिघल जायगी और पारा उबलने लगेगा। ऐसी भट्टी के उच्च तापक्रम को नापने के लिए 'थर्मोइलेक्ट्रिक पाइरोमीटर' ( विद्युत्-थर्मामीटर ) काम में लाए जाते हैं। इस पाइरोमीटर में प्लैटिनम तथा रेडियम धातुओं के दो छड़ चीनी मिट्टी की नली में रखे रहते हैं। दोनों छड़ एक सिरे पर एक दूसरे से जुटे रहते हैं, तथा उनके दूसरे सिरे विद्युत्-धारामापक यन्त्र से सम्बद्ध होते हैं। जिस सिरे पर दोनों छड़ एक दूसरे से जुटे रहते हैं, उसे भट्टी के अन्दर रखते ही विद्युत्-यंत्र में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है, जो तापक्रम के अनुपात में ही घटती-बढ़ती है। अतः भट्टी के तापक्रम का पता चल जाता है। इस यन्त्र की सहायता से २५०० अंश सेंटीग्रेड तक का तापक्रम नाप सकते हैं।

कई सूक्ष्मग्राही थर्मामीटर भी विद्युत् की सहायता से बनाए गए हैं। ये थर्मामीटर 'रेडियो-माइक्रोमीटर' कहलाते हैं। इनकी सहायता से ज्योतिषज्ञ करोड़ों मील की दूरी पर स्थित नक्षत्रों के तापक्रम को नापने में समर्थ होता है। ५ मील की दूरी पर रखी हुई मोमबत्ती के ताप को भी यह सूक्ष्म यन्त्र नाप लेता है!

अस्पतालों में भी विद्युत्-यन्त्र से 'एक्स-रे' उत्पन्न करके डाक्टरों ने अपनी चिकित्सा-प्रणाली में उससे भरपूर लाभ उठाया है। फेफड़े में कोई ख़राबी है तो डाक्टर एक्स-रे द्वारा फेफड़े का फ़ोटो लेकर उसे आपके सामने रख देता है। युद्ध में आहत व्यक्तियों के शरीर के अन्दर कहाँ हड्डी टूटी हुई है अथवा किस स्थान पर गोली शरीर में घुसी पड़ी है, यह मालूम करने के लिए भी एक्स-रे द्वारा उस अंग का फ़ोटो लिया जाता है।
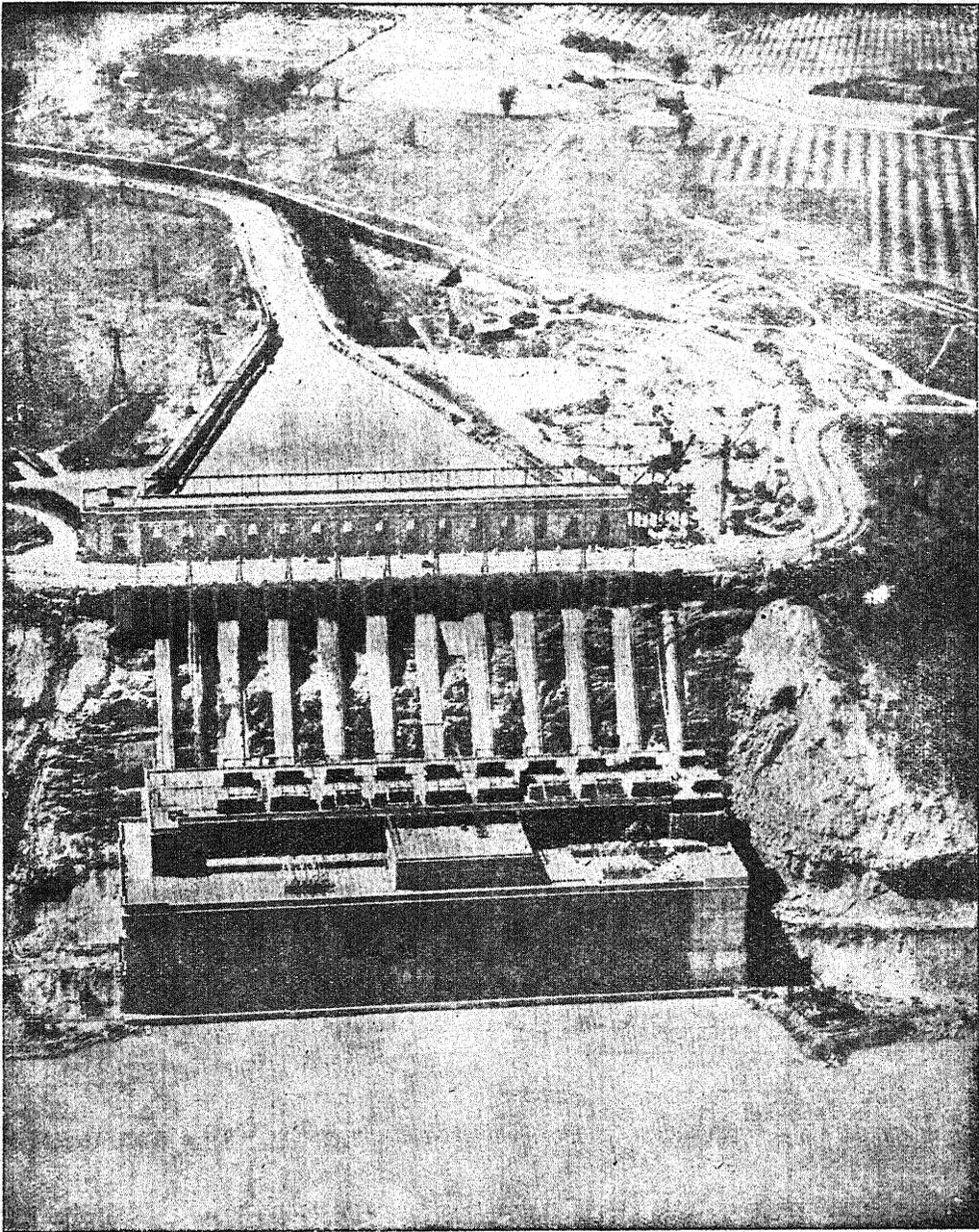
**अमेरिका के प्रसिद्ध नायग्रा जलप्रपात की जलशक्ति से बिजली पैदा करने के लिए क्वीन्स्टन नामक स्थान में प्रस्थापित बिजलीघर का बाहरी दृश्य। इसमें लगे हुए विशाल विद्युतोत्पादक टरबाइनों के लिए पृ० २६५१ का चित्र देखिए!**

संसारव्यापी पिछले महायुद्ध में भी विद्युत्-शक्ति ने कम महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया है। विद्युत्-शक्ति पर ही अवलम्बित रेडियो-तरंगों की सहायता से वैज्ञानिकों ने 'रेडर' नामक यंत्र इस युद्ध में तैय्यार किया, जो दूर से ही वायुयानों के आने की सूचना, उनकी रफ़्तार तथा उनकी ऊँचाई आदि का ठीक-ठीक पता बतला देता है! १६४० में जब जर्मन बमवर्षक वायुयान हज़ारों की संख्या में इङ्गलैण्ड पर बमवर्षा करने के लिए आते थे, तब 'रेडर' की

सहायता से ही उनके आने की खबर पाकर ब्रिटिश उड़ाकू वायुयान पहले से ही आकाश में उड़कर जर्मन वायुयानों को खदेड़ने का प्रयत्न करते थे। रात के अँधेरे में तूफ़ान तथा कुहरे में भी 'रेडर' अपना उत्तरदायित्व सफलतापूर्वक सँभालता है।

जलशक्ति से विद्युत् बहुत सस्ते में उत्पन्न की जा सकती है। अमेरिका में नायग्रा जलप्रपात से अपरिमित मात्रा में विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करके सैकड़ों मील दूर तक उस शक्ति का प्रयोग मशीनों के संचालन तथा घर में रोशनी पैदा करने एवं चूल्हा जलाने के लिए किया गया है। विद्युत्-शक्ति के प्रयोग में सबसे बड़ी सुविधा यह है कि इसके लिए कारखाने में न ब्वॉयलर की ज़रूरत होती है, न भट्टी की। थोड़ी-सी जगह में सफ़ाई के साथ विद्युत्-यंत्र लगाए जा सकते हैं। बस एक ही स्विच के दबाने से मशीन चालू हो जाती है। न गर्द-गुब्बार, न धुँआ!

**फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेल अथवा विद्युत्-आँखें**

इस जादू-जैसे विद्युत्-यंत्र की करामात से अँधेरे में सेंध देते हुए चोर द्वारा किसी जौहरी की खिड़की का शीशा तोड़े जाते समय उसमें प्रदर्शित जवाहरात अपने आप नीचे खिसककर तिजोरी में चले जाते हैं और सुरक्षित हो जाते हैं। साथ ही तुरंत ख़तरे की घंटी भी बज उठती है।

भारत में कोयले तथा खनिज तैल की खानें बहुत कम स्थानों पर हैं और वे भी दूर-दूर हैं। अतः पर्वतों के झरनों की शक्ति से विद्युत् उत्पन्न करने की ओर विशेषज्ञों का ध्यान गया। फलस्वरूप पंजाब, युक्तप्रान्त, मद्रास और मैसूर में जलप्रपातों से विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करने के लिए अनेक पावर-हाउस बनाए गए हैं। फिर भी हिसाब लगाया गया है कि भारत के जलप्रपातों में ३ करोड़ ६० लाख अश्वबल की शक्ति मौजूद है, जिसमें से अभी तक केवल ७ लाख अश्वबल की शक्ति ही विद्युत् में परिणत की गई है। आशा की जाती है कि युद्धोत्तर निर्माण-योजना में जल-शक्ति का अधिकांश भाग, जो व्यर्थ नष्ट हो रहा है, विद्युत्-शक्ति में परिणत किया जा सकेगा और तब वास्तव में भारत के कल-कारखानों का भविष्य भी उज्ज्वल बन सकेगा।

पिछले १५ वर्षों में विद्युत्-शक्ति ने विज्ञान की अनेक मूल समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। विद्युत्-धारा की सहायता से ही प्रयोग करके यह बात पहले प्रमाणित की गई कि सभी पदार्थों के परमाणुओं के अन्दर अणाणु (इलेक्ट्रान्) पाए जाते हैं। पदार्थ के परमाणुओं में अपार शक्ति निहित है—इतनी कि हम स्वप्न में भी उसका अनुमान नहीं कर सकते। वैज्ञानिक इस धुन में हैं कि परमाणुओं में निहित शक्ति-भण्डार को अपने वश में करें। अमेरिका इस क्षेत्र के अनुसन्धानों में अग्रगण्य हो रहा है। यूरैनियम नामक मूलतत्त्व के परमाणु की शक्ति को वश में करके अमेरिकन वैज्ञानिकों ने ब्रिटिश तथा स्वीडिश वैज्ञानिकों की सहायता से परमाणु बम जैसे भयावह अस्त्र का निर्माण किया है। बहुत सम्भव है, निकट भविष्य में ऊँचे वोल्टेज की विद्युत्-धारा की सहायता से अणु-परमाणुओं में निहित शक्ति को वैज्ञानिक पूर्ण रूप से अपने वश में कर लें। तब कदाचित् हमारी सभ्यता इतिहास के एक नए युग में प्रवेश करेगी, जिसे 'परमाणु-युग' का नाम दिया जा सकेगा।

# जीव-पदार्थों में रहनेवाले तत्त्वों का नायक—कार्बन

कोयला, ग्रफ़ाइट तथा हीरा— इन तीन रूपान्तरों में रहनेवाले तथा अपनी अद्भुत रासायनिक लीलाओं द्वारा लाखों जीव-पदार्थों एवं कृत्रिम यौगिकों की रचना करनेवाले तत्त्व की कथा

## प्रकृति में कार्बन

जब जलती हुई लकड़ी अथवा उसके अंगारे बुझा लिए जाते हैं तो जो काली वस्तु निकल आती है, उसे हम 'लकड़ी का कोयला' कहते हैं। यह कोयला रासायनिक तत्त्व 'कार्बन' का ही एक रूप-मात्र होता है। केवल लकड़ी ही नहीं, किसी भी वनस्पति पदार्थ—फल, फूल, बीज, पत्ती, छाल, छिलका, आदि—अथवा किसी भी प्राणि-पदार्थ—मांस, हड्डी, खाल, चमड़ा, बाल, आदि—को आग में झुलसाने या जलाकर बुझा लेने से हमें कार्बन का यही काला रूप कोयला दिखाई पड़ने लगता है। कपड़ा, काग़ज़, शकर, रोटी, आदि के झुलसाने पर भी हमें उसी रूप में कार्बन दृष्टिगोचर होता है—ये सभी वस्तुएँ वनस्पति पदार्थों से बनी होती हैं। वास्तव में, कार्बन जीव-जगत् के सारे पदार्थों का प्रमुख तत्त्व है। अपनी चार संयोजन-शक्तियों द्वारा वह लगभग एक दर्जन तत्त्वों, विशेषतः हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, गंधक, फ़ास्फ़रस और हैलोजन, अथवा उनके परमाणु-समूहों में से एक या अधिक से संबद्ध होकर अगणित यौगिक रूपों में प्रकट होता है। जीव-कलेवरों के नाना अद्भुत पदार्थों की सृष्टि इसी प्रकार संभव हो सकी है।

पेड़-पौधों को अपने शरीर के निर्माण के लिए आवश्यक कार्बन श्वास द्वारा हवा में मिली हुई 'कार्बन डाइऑक्साइड गैस' ( $CO_2$ ) से मिलता है। इससे वे कार्बन ले लेते हैं और शेष ऑक्सिजन हवा को लौटा देते हैं ( दे० पृ० २० )। खुली हवा में निरंतर ०.०३ प्रति शत, अर्थात् १०,००० भागों में तीन भाग, कार्बन डाइऑक्साइड बनी रहती है। अल्प मात्राओं में वह पानी में भी घुली रहती है। यदि ऐसा न होता तो पानी के भीतर पेड़-पौधों का जीवन संभव न हो सकता।

धरती के स्तरों में से निकलनेवाली प्राकृतिक गैसें और पेट्रोलियम द्रव भी विभिन्न हाइड्रो-कार्बनों, अर्थात् कार्बन और हाइड्रोजन के यौगिकों के मिश्रण होते हैं। संभाव्यतः पेट्रोलियम द्रव और प्राकृतिक गैसें भी जीव-पदार्थ हैं जो दबाव और गर्मी के प्रभाव से धरती की तहों में दब गए हुए सामुद्रिक जीवों के विच्छेदन से उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार जैसे जंगलों के दब जाने से कोयले की खानों की उत्पत्ति हुई है।

संयुक्तावस्था में कार्बन कार्बोनेट लवणों में भी अधिकता से पाया जाता है। इनमें कैल्शियम कार्बोनेट ( $CaCO_3$ ) प्रधान है। खड़िया*, चूने का पत्थर, संगमर्मर, कैल्साइट और आइसलैण्ड-स्पार इसी यौगिक के विभिन्न खनिज रूप हैं। इसके अलावा कैल्शियम कार्बोनेट कंकड़ तथा अनेक स्तरयुक्त पत्थरों में भी रहता है। अंडों के छिलकों और जलजीवों के कोशों ( घोंघा, आदि ) में भी प्रधानतः कैल्शियम कार्बोनेट ही रहता है। पिसी हुई खड़िया को सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखने से पता लगता है कि वह अति सूक्ष्म जल-प्राणियों के शवों से बनी हुई है। ये प्राणी मरकर दीर्घ काल तक समुद्र की तह पर निक्षिप्त होते रहे होंगे, और फिर भूकंप द्वारा इस तह के समुद्र-तल के ऊपर उठ आने के कारण इन निक्षेपों ने पहाड़ियों का रूप धारण कर लिया होगा। आज इन्हीं पहाड़ियों से खड़िया खोदकर निकाली जाती है। सूक्ष्मदर्शक

* स्कूलों में काम में लायी जानेवाली 'चाक' की बत्तियाँ खड़िया की नहीं, कैल्शियम सल्फ़ेट की होती हैं। रासायनिक दृष्टि से उनको 'चाक' कहना ग़लत है।
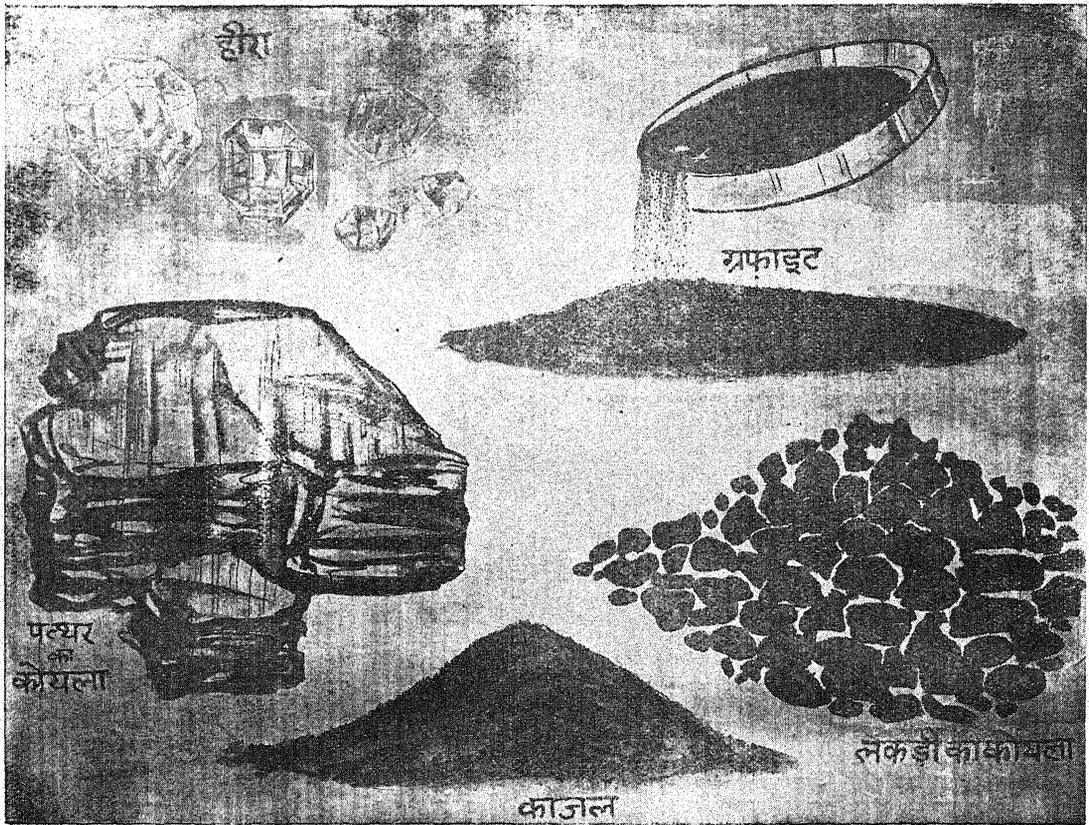
**कार्बन के नाना रूप**

**हीरा और ग्रफ़ाइट कार्बन के दो मणिभीय रूपांतर हैं। कोयला, काजल आदि की गणना अमणिभ रूपांतरों में होती है, यद्यपि वास्तव में ये ग्रफ़ाइट के ही विभिन्न रूप हैं।**

द्वारा यह पता लगता है कि खड़िया के एक घन इंच में लगभग दस लाख ऐसी ठठरियाँ रहती हैं, अतः इन पहाड़ियों के बनने में जलजीवों के कितने पंजर एकत्र होंगे! कैल्शियम के अलावा मैग्नीशियम, लोहा, सीसा, जस्ता, बेरियम, स्ट्रांशियम, ताँबा, सोडियम आदि धातुओं के कार्बोनेट भी खनिज रूप में मिलते हैं। अधिकतर इन खनिजों से या तो उनकी धातुओं का निर्माण होता है या उन धातुओं के अन्य लवण तैयार किए जाते हैं।

मुक्तावस्था में कार्बन प्रकृति में तीन रूपों में मिलता है—पत्थर का कोयला, ग्रफ़ाइट और हीरा। कोयला प्रत्यक्षतः अमणिभ और ग्रफ़ाइट एवं हीरा मणिभीय होते हैं। उपरोक्त अन्य दो रूपांतरों की अपेक्षा पत्थर का कोयला कहीं अधिक परिमाणों में मिलता है। पृथ्वी के गर्भ में वह कई फ़ीट मोटी तहों के रूप में जमा है और इन्हीं स्तरों से खोदकर निकाला जाता है। पत्थर का कोयला न केवल आधुनिक भाप के इंजनों का ईंधन ही है, बल्कि सैकड़ों उपयोगी कार्बनिक और कुछ अकार्बनिक पदार्थों का प्रभव भी है। ये पदार्थ हवा की अनुपस्थिति में उसके 'शुष्क स्रवण' द्वारा प्राप्त होते हैं।

प्राकृतिक कोयले की उत्पत्ति का इतिहास अगणित युगों पुराना है। करोड़ों वर्ष पहले, जब मनुष्य का नाम-निशान तक न था—जब प्राणि-जगत् का विकास केवल रेंगनेवाले जानवरों तक ही सीमित था—दलदल-युक्त धरातल पर बड़े-बड़े घने और सैकड़ों फ़ीट ऊँचे तक जंगल लगे हुए थे। उन दिनों पेड़ सभी पुष्पहीन थे—फूलों का विकास ही न हुआ था—और न गानेवाली चिड़ियाँ ही थीं और न गिलहरियाँ ही। सैकड़ों वर्ष तक इन भीषण जंगलों के वृक्ष बढ़ते रहे और हर

**पत्थर के कोयले की उत्पत्ति**

(१) पुरातन जंगल ]। (२) भूडोलों के कारण समुद्र में धँसा हुआ वही जंगल। (३) पहले जंगल से उत्पन्न कोयले का स्तर और उसके ऊपर जमी हुई मिट्टी पर ता हुआ दूसरा जंगल। (४) समुद्र में धँसा हुआ दूसरा जंगल और उसके ऊपर जमता हुआ मिट्टी का स्तर। खानों में पाई जानेवाली कोयले की पट्टियों (Seams) की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।
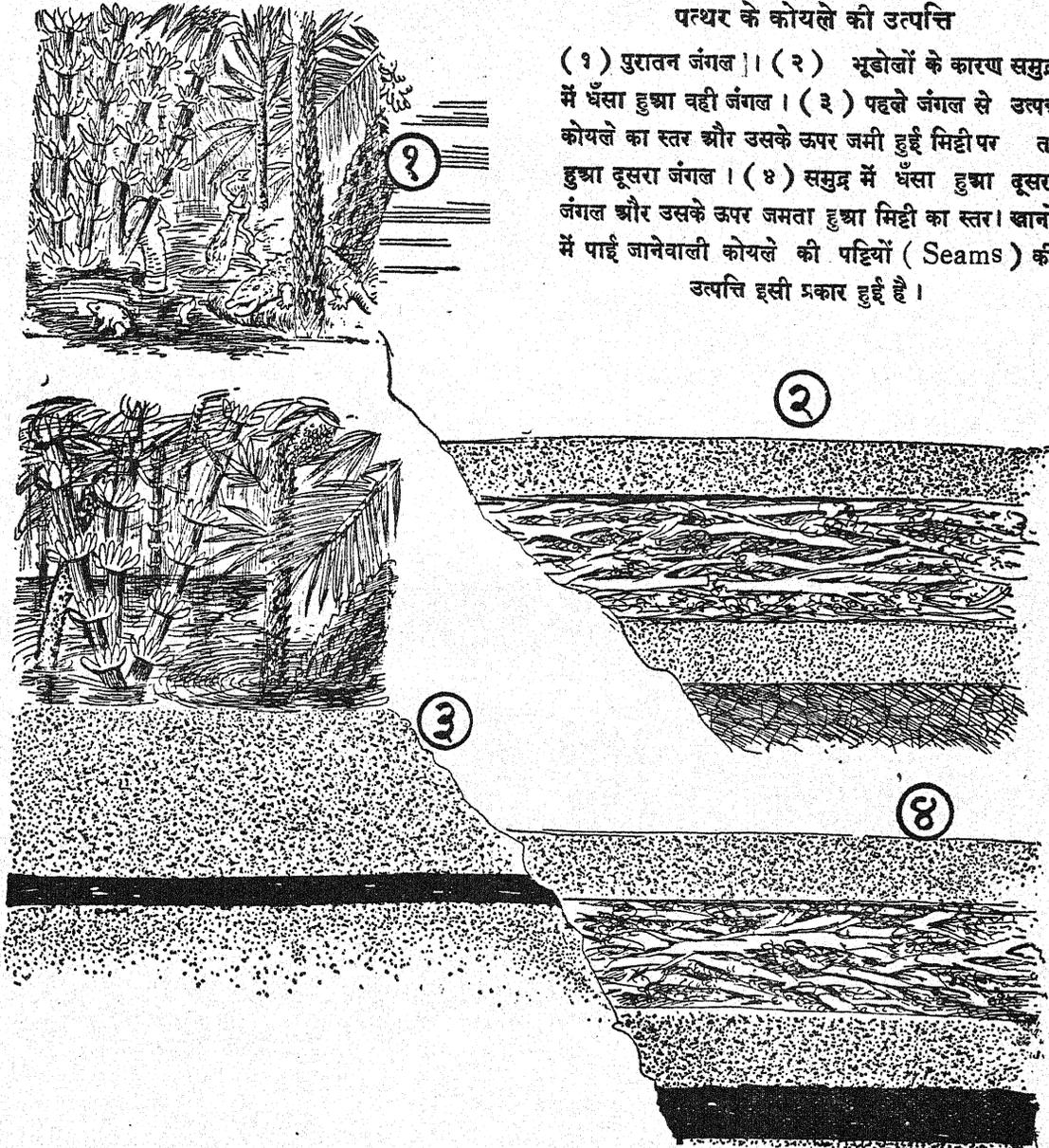
साल असंख्य पत्तियाँ और वृक्षों के अन्य भाग दलदलों में गिर गिरकर मिलते और दबते रहे, और उन पर फिर अन्य पेड़ उगते रहे। धीरे-धीरे युगों तक भौगर्भिक परिवर्त्तन होते रहने के कारण क्रमशः ये जंगल नीचे धँसकर समुद्र में डूब गए और उन पर बालू और मिट्टी की तहें जमने लगीं। इसी दशा में अपने ऊपर के स्तर के भारी बोझ से दबे हुए वे हज़ारों वर्ष पड़े रहे। दबाव से उन वनस्पति-कलेवरों का स्तर अधिकाधिक कड़ा होता और धरती के अंदर की गर्मी के कारण झुलसता गया; यहाँ तक कि अंत में उसने कठोर चमकदार काले कोयले का रूप धारण कर लिया!

कभी-कभी यह धँसी हुई धरती फिर समुद्र-तल के ऊपर उठ आई, उन पर कोयलेवाले जंगल फिर उठे, वे फिर समुद्र में धँसे, और कोयले का एक और स्तर पूर्वानुसार तैयार हो गया। वास्तव में, यह घटना-चक्र जितनी बार चला, कोयले के उतने ही स्तर बने। कोयले की खदानों

में इसीलिए बहुधा कई पट्टियाँ पाई जाती हैं। इन्हें अंग्रेज़ी में 'सीम' ( Seam ) कहते हैं।

प्राकृतिक कोयले का चार प्रकारों में वर्गीकरण किया गया है। ये उसकी उत्पत्ति की चार विभिन्न अवस्थाओं के परिचायक होते हैं।—

( १ ) **पीट**—यह कोयला ढीली बनावट का, नरम, हलका और उत्पत्ति की प्रथम अवस्था में होता है। इसमें लकड़ी के रेशे तक रहते हैं। जहाँ सूखी लकड़ी में ५० भाग कार्बन, ६ भाग हाइड्रोजन और ४४ भाग ऑक्सिजन के रहते हैं, वहाँ पीट में इन तत्त्वों के क्रमशः ६०, ५·६, और ३४·१ भाग रहते हैं। इन अंकों से पीट में लकड़ी के कार्बनीकरण की अवस्था का अनुमान हो सकता है।

( २ ) **लिग्नाइट**—यह पीट से अधिक कड़ा, भूरे-लाल रंग का तथा अत्यन्त भंगुर पदार्थ होता है, और कोयले की उत्पत्ति की दूसरी अवस्था का प्रतिनिधि है। इसमें कार्बन के ६७ और हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन के क्रमशः ५·२ और २७·८ भाग रहते हैं। यह बहुत धुआँ देता हुआ जलता है, लेकिन पीट से अधिक आँच देता है।

( ३ ) **बिटुमिनस कोयला**—खदानों से सबसे अधिक कोयला इसी प्रकार का निकलता है। यह काला, कठोर और पथरीला होता है, और उसकी चट्टानों में बहुधा वनस्पति-कलेवरों के प्रस्तरीभूत अवशेष अपने मूल रूप में मिलते हैं। इसमें कार्बन के ८८·४ और हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के क्रमशः ५·६ और ६ भाग रहते हैं। यह तेज़ धुआँदार लौ के साथ जलता है और लिग्नाइट से अधिक आँचदार होता है। कोल-गैस, कोल-तार, कोक, आदि वस्तुएँ इसी कोयले के शुष्क स्रवण द्वारा बनाई जाती हैं।

( ४ ) **ऐन्थ्रासाइट**—यह पत्थर के कोयले की उत्पत्ति की अंतिम अवस्था में और उसका सबसे शुद्ध रूप होता है। इसमें कार्बन के ६४ और हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन के क्रमशः ३·५ और २·५ भाग रहते हैं। यह सबसे कड़ा और भारी, ऊँचे तापक्रम पर आग पकड़नेवाला, और बिना धुआँ की तथा सबसे अधिक आँचदार लौ के साथ जलनेवाला होता है। इसीलिए यह भाप के ब्वॉयलरों में व्यवहृत होता है।

यह स्पष्ट है कि कोयला जितना ही ठोस होता है और साथ ही साथ उसमें जितना ही अधिक कार्बन रहता है, वह उतना ही कठिनता से आँच पकड़नेवाला लेकिन उतनी ही अधिक आँचदार लौ से जलनेवाला होता है। कार्बन के मणिभीय रूप और भी ऊँचे तापक्रम पर आँच पकड़नेवाले होते हैं। ऊपर कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के भागों की जो संख्याएँ दी हुई हैं, वे केवल औसत की संख्याएँ हैं; वास्तव में, किसी भी प्रकार के कोयले के विभिन्न नमूनों में अवयवों के परिमाणों में कुछ न कुछ अंतर होता ही है। इसके अतिरिक्त पत्थर के कोयले में इन तत्त्वों के अलावा अल्पांशों में कुछ अन्य तत्त्व, विशेषतः नाइट्रोजन और गंधक, भी संयुक्तावस्था में रहते हैं।

पत्थर के कोयले के विभिन्न प्रकारों तथा उनकी बनावटों से उसके पूर्वोक्त इतिहास की सत्यता स्पष्टतः प्रमाणित हो जाती है। कोयले की पट्टी के ऊपरवाले स्तर—"कोयले की छत"—में भिदी हुई वृक्षों की कार्बनीभूत शाखाएँ और उनके नीचे के स्तर में कार्बनीभूत जड़ों के अवशेष मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि कोयले के जंगलों में कुछ पेड़ सीधे अर्थात् बिना गिरे ही दब गए होंगे।

कोयला संसार के बहुत-से भागों में पाया जाता है। उत्तरी अमेरिका ( प्रधानतः संयुक्त राष्ट्र ), ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, चेकोस्लोवेकिया, फ्रांस, रूस, बेल्जियम, जापान, चीन, भारतवर्ष, आस्ट्रेलिया ( न्यू साउथ वेल्स ), दक्षिणी अमेरिका ( चिली, कोलम्बिया, पीरू और ब्रेज़िल ) और दक्षिण अफ्रीका—इन सभी देशों में उसकी खुदाई होती है।

कार्बन के दो अन्य प्राकृतिक रूप, जो मणिभीय और ऐन्थ्रासाइट से भी अधिक शुद्ध होते हैं, ग्रफ़ाइट और हीरा हैं। ग्रफ़ाइट लगभग ६७ प्रतिशत शुद्ध कार्बन होता है। ग्रफ़ाइट आग्नेय चट्टानों में पाया है, जिससे यह पता लगता है कि बहुत ही ऊँचे तापक्रम और दबाव के प्रभाव में कोयले के प्रायः सभी अपद्रव्य विच्छिन्न होकर निकल गए होंगे, और वह मणिभीभूत होकर ग्रफ़ाइट के रूप में रह गया होगा। हाल ही में वैज्ञानिक कृत्रिम विधि से भीषण तापक्रम और दबाव में कार्बन को पिघलाने में सफल हुए हैं और यह देखा गया है कि ठंडा होने पर यह पिघला हुआ कार्बन ग्रफ़ाइट के रूप में ठोस होकर रह जाता है। सम्भव है कि प्राकृतिक ग्रफ़ाइट का उत्पादन इसी प्रकार हुआ हो। एक्स-किरणों द्वारा परीक्षा से यह प्रकट होता है कि ग्रफ़ाइट में कार्बन के परमाणु एक निश्चित ढंग से व्यवस्थित रहते हैं। उनकी मणिभता

पत्थर के कोयले की एक आधुनिक खदान का दृश्य
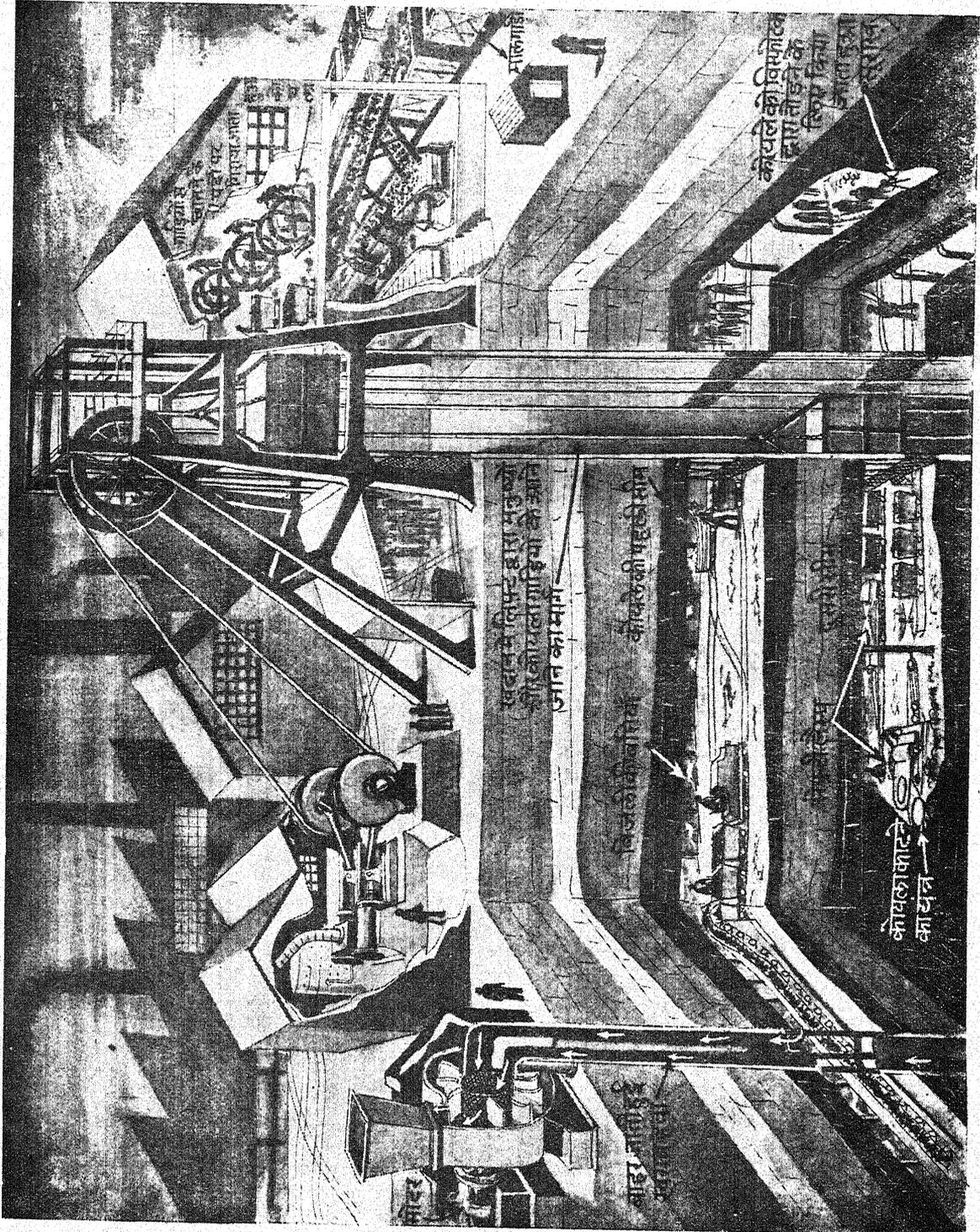
का कारण यही है ।* वस्तुतः मणिभ वही वस्तु होती है, जिसमें उसके परमाणु अथवा अणु एक ढंग से सजे रहते हों। जिसमें यह सजाव नहीं वही अमणिभ होते हैं। हीरा भी अपने कार्बन के परमाणुओं के ऐसे ही सजाव के कारण मणिभीय होता है (दे० पृ० २६६६ का चित्र)।

ग्रफ़ाइट की खानों की खुदाई प्रधानतः साइबेरिया, लंका, इटली, संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका), मेडागास्कर, आस्ट्रिया और बवेरिया (जर्मनी) में होती है।

हीरा कार्बन का सबसे शुद्ध, शुभ्र और सुन्दर मणिभ रूप है। अपनी विरलता एवं उत्कृष्टता के कारण वह बहुत ही मूल्यवान होता है। एक समय था जब हीरे की खुदाई केवल दक्षिण भारत में गोलकुंडा की खानों में होती थी। यहाँ के हीरे सर्वथा पारदर्शक और रंगहीन होते थे, और अपनी उत्कृष्टता के लिए संसार भर में प्रसिद्ध थे। ब्रिटेनवालों ने सबसे पहले भारतीय हीरों को ही देखा था। गोलकुंडा का सबसे प्रसिद्ध हीरा 'कोहिनूर' (प्रकाश का पर्वत) है। उसकी तौल पहले १८६ कैरट (१ कैरट = ०·२ ग्राम = ३·१७ ग्रेन = लगभग १ रत्ती) थी। वह पहले मुग़ल बादशाहों के पास रहकर फिर भारतीय राजाओं के पास रहा। सन् १८४६ में वह रानी विक्टोरिया को भेंट कर दिया गया। वहाँ वह फिर काटा गया और उसकी तौल १०६ कैरट रह गयी। आजकल वह ब्रिटिश मुकुट में जड़ा हुआ है। गोलकुंडा की हीरे की खानें अब खाली हो चुकी हैं, और आजकल हीरे की खुदाई का सबसे बड़ा काम किम्बर्ली (दक्षिण अफ़्रीका) में होता है। वहाँ हीरा प्रागैतिहासिक काल के ज्वालामुखी पहाड़ों के कूपों में भरी हुई आग्नेय चट्टानों में पाया जाता है। इन चट्टानों को 'नीली मिट्टी' कहते हैं। इन्हें खोदकर बाहर डाल दिया जाता है, जहाँ वे लगभग एक वर्ष तक पड़ी रहती हैं और जलवायु के प्रभाव से चूर्ण हो जाती हैं। इस चूर्ण में से बड़े-बड़े हीरे हाथ से बीन लिए जाते हैं। शेष नीली मिट्टी को पानी में मिलाकर चरबी से ढके हुए तख़्तों पर से बहाया जाता है, जिससे हीरे के कण चरबी में भिद जाते हैं और मिट्टी पानी के साथ मिली हुई बह जाती है। हीरे की उत्पत्ति भी संभाव्यतः भीषण ताप और गर्मी के प्रभाव से कार्बन के मणिभूत होने से हुई होगी। किंबर्ली की खानों से निकलनेवाला सबसे बड़ा और प्रसिद्ध हीरा 'कलिनन' था। यह सन् १६०५ में टी० कलिनन की भूमि में स्थित खान में पाया गया था। सन् १६०७ में वह एडवर्ड सप्तम को भेंट कर दिया गया। पहले उसका वज़न ३०२५॥। कैरट (१॥ पौंड) था, लेकिन बादशाह के पास आने के बाद वह दो टुकड़ों में काट डाला गया। एक का नाम 'स्टार ऑफ़ अफ़्रीका' रखकर उसे बादशाह के राजदंड में जड़ दिया गया है और दूसरा राजमुकुट में जड़ा है। एक दूसरे संसार-प्रसिद्ध हीरे का नाम 'होप' है। उसका वज़न ४४·५ कैरट है और रंग बड़ा ही सुन्दर नीला।

हीरे में नाना प्रकार के रंग धातव अपद्रव्यों की लेश-मात्र उपस्थिति में आ जाते हैं। भूरे और काले रंग के हीरे, जिन्हें क्रमशः 'कार्बोनैडो' और 'बोर्ट' कहते हैं, सुंदर न होने के कारण आभूषणों के काम में नहीं आते।

कार्बन की इतनी जगत्व्यापी उपस्थिति होने पर भी वह धरती के चिप्पड़ और वायुमंडल का केवल ०·१६ प्रतिशत अंश है!

### कार्बन के नाना रूपों का कृत्रिम उत्पादन

कार्बन के विभिन्न प्राकृतिक रूप मानव-आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं होते, अतः उनकी पूर्त्ति कृत्रिम उत्पादन द्वारा की जाती है। कार्बन का कृत्रिम अमणिभ रूपांतर 'चारकोल' आवश्यकतानुसार विभिन्न जीव-पदार्थों को जलाकर तैयार किया जाता है। इस प्रकार बनाए जानेवाले कोयलों में 'लकड़ी का कोयला', 'कोक', 'हड्डी का कोयला' और 'काजल' प्रमुख हैं।

**लकड़ी का कोयला** हमारे दैनिक जीवन की एक साधारण वस्तु है। लकड़ी के अंगारों को बुझा लेने से वह रह जाता है। बड़े परिमाणों में लकड़ी का कोयला उन जंगलों में बनाया जाता है, जहाँ वह सस्ती होती है। सूखी लकड़ी के लट्ठे अथवा छोटे-छोटे टुकड़े, बीच में हवा के लिए रास्ता छोड़ते हुए, गोल ढेर के रूप में जमा कर दिए जाते हैं। यह वायु-मार्ग चिमनी का काम करता है। कुछ छोटे

*हाल ही में एक्स-किरणों द्वारा कोयले के शुद्ध रूपों—यथा कोक, लकड़ी का कोयला, काजल आदि—की परीक्षा हुई है। इससे, यह पता चला है कि इनमें भी परमाणुओं की व्यवस्था लगभग वैसी ही होती है जैसी ग्रफ़ाइट में। अंतर केवल इतना ही होता है कि उनके कण अपेक्षया बहुत ही छोटे होते हैं और इसी कारण वे बेचमकदार और अमणिभ दिखाई देते हैं। इस प्रकार कार्बन के दो ही रूपांतर (ग्रफ़ाइट और हीरा) होते हुए भी कोयले को 'अमणिभ' कहकर उसका पृथक् वर्णन इसलिए आवश्यक है कि उसके गुण मणिभीय रूपांतरों के गुणों से बहुत भिन्न होते हैं।

सूराख पेंदे पर भी छोड़ दिए जाते हैं, जिनमें से हवा भीतर जाती है। तब घास मिली हुई मिट्टी से यह राशि ढक दी जाती है और बीच के मार्ग से उसमें आग लगा दी जाती है। केवल उतनी ही हवा भीतर जाने दी जाती है, जिससे लकड़ी सुलगती रहे, अर्थात् उसके अन्य वाष्पशील पदार्थ निकल जायँ, किन्तु कोयला कम-से-कम जले। कुछ दिनों के बाद जब बीच के वायु-मार्ग से निकलती हुई धुएँदार पीली लौ के स्थान में कार्बन-मोनॉक्साइड की धूम्रहीन नीली लौ जलने लगती है तो मालूम हो जाता है कि लकड़ी पूर्णतः कोयले में बदल गई है। तब सब वायुद्वारों को बंद कर दिया प्राप्त होते हैं। इसका विस्तृत वर्णन हम आगे कभी करेंगे। लकड़ी का कोयला बनाने की यह विधि आधुनिक है। इसमें लकड़ी का कोई अंश बेकार नहीं जाने दिया जाता।

लकड़ी के चूल्हे पर गर्म किए जाने से बर्त्तन पर जो काला चिकटा पदार्थ जम जाता है, वह लकड़ी का अलकतरा ही होता है। बर्त्तन से यह मुश्किल से छूटता है। तवे का तापक्रम अलकतरे के घनीभूत होने के तापक्रम से अधिक ऊँचा होता है, इसलिए उस पर अलकतरा नहीं, केवल काजल ही जमता है, जो आसानी से छूट जाता है। तवे का माँजना बटलोई के माँजने से इसीलिए अधिक आसान
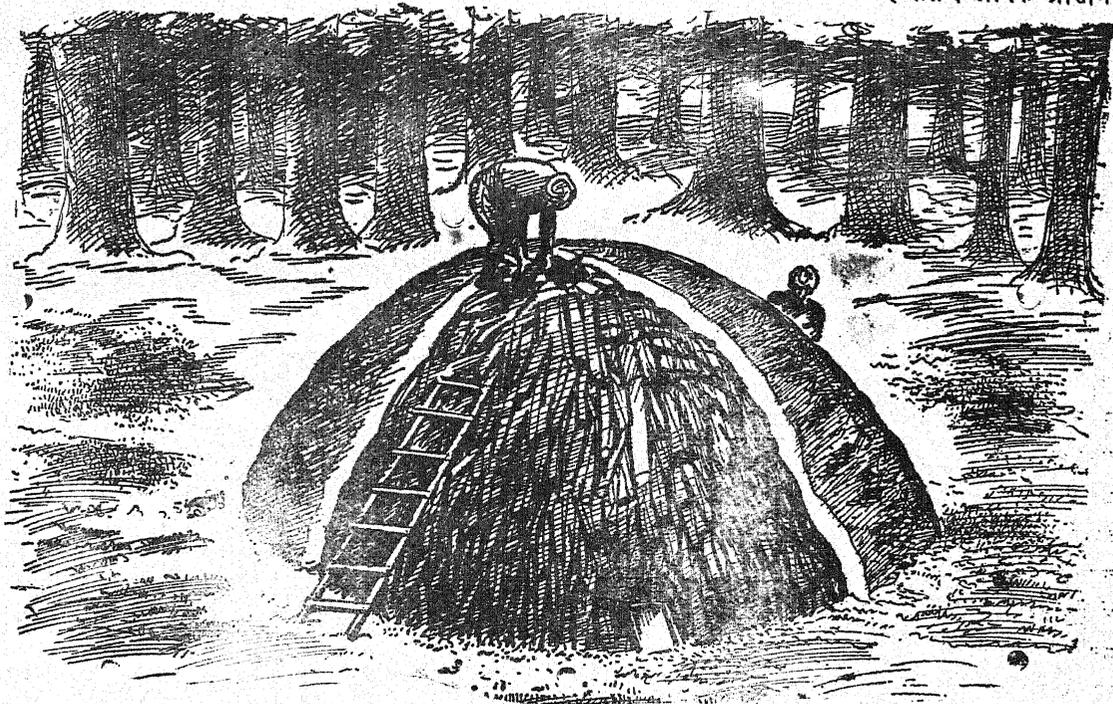
**लकड़ी के कोयले का बड़े परिमाण में उत्पादन**

जाता है जिससे कोयला बुझ जाता है। इस प्रकार लकड़ी के भार का लगभग २० प्रतिशत कोयला बनता है।

यदि हवा की अनुपस्थिति में लकड़ी ऊँचे तापक्रम पर लोहे के रिटार्ट में गर्म की जाय तो उसके विभिन्न वाष्पशील पदार्थ इकट्ठे किए जा सकते हैं। इस विधि को लकड़ी का 'शुष्क स्रवण' अथवा 'विनाशकारी स्रवण' कहते हैं। इसमें न केवल लकड़ी के भार का २५ प्रतिशत कोयला ही रिटार्ट में बच रहता है, बल्कि लकड़ी की गैस, मेथिल अल्कोहल, सिरके की अम्ल (ऐसिटिक ऐसिड) और लकड़ी का अलकतरा नामक उपयोगी कार्बनिक पदार्थ भी होता है। जिन रसोइयों में लकड़ी का ईंधन काम में आता है, उनकी दीवालें, दरवाज़े तथा उनमें हमेशा रक्खी जानेवाली वस्तुओं पर भी लकड़ी के अलकतरे की एक भूरी अथवा काली चिकनी तह जम जाती है, यह आपने देखा होगा। लकड़ी का कोयला अथवा कोक के प्रयोग से बर्त्तन, दीवालें आदि उस तरह काली नहीं होतीं और न धुआँ ही होता है, कारण इनमें से कार्बन के अलावा अन्य वाष्पशील पदार्थ निकल चुके होते हैं।

लकड़ी का कोयला छिद्रमय होता है और इसके छेदों में हवा रहती है। इसीलिए उसका घनत्व पानी से कम

हो जाता है और वह उस पर तैरता है। यदि एक बोतल में पानी लेकर कोयले का एक टुकड़ा उसमें छोड़ दिया जाय और फिर पंप द्वारा उस बोतल की हवा निकाल दी जाय, तो कोयले से हवा के बुलबुले निकलते हुए दिखाई देंगे और वह धीरे धीरे पानी में बैठ जायगा। कोयले के छेदों से हवा निकल जाने पर उनमें पानी भर जाता है और वह पानी से भारी हो जाता है। वायुरहित कोयले का विशिष्ट घनत्व लगभग १·५ होता है, अर्थात् वह पानी से लगभग ड्योढ़ा भारी होता है।

लकड़ी का कोयला केवल ईंधन ही नहीं है, वह कई अन्य कामों में भी आता है। अत्यंत छिद्रमय होने के कारण उसमें गैसों और वाष्पों को शोषित कर लेने की अद्भुत सामर्थ्य होती है। जो गैस जितनी ही सरलता से घनीभूत होनेवाली होती है, अर्थात् जिस गैस का कथनांक जितना ही कम होता है, वह गैस उतनी ही अधिक तत्परता के साथ और अधिक मात्रा में लकड़ी के कोयले में अधिशोषित होती है। अपने इसी गुण के कारण लकड़ी का कोयला पानी साफ़ करने (दे० पृ० ५३८) तथा गैस-मास्क में गैसों का शोषण करने के लिए प्रयुक्त होता है। गैसों को शोषित करने की सबसे अधिक सामर्थ्य नारियल आदि फलों के खपटों अथवा बेंत की लकड़ी के कोयले में होती है, इसलिए गैस-मास्कों में यही कोयला काम आता है (दे० पृ० १७६७–६८)। दाँत का मंजन बनाने में बहुधा लोग बादाम के छिलकों के कोयले को काम में लाते हैं, वह भी अकारण नहीं। जब काम में लाए गए कोयले की शोषण-शक्ति जाती रहती है तो यह हवा की अनुपस्थिति में फिर से रक्त-तप्त किया जाता है। ऐसा करने से उसमें से शोषित द्रव्य निकल जाता है,
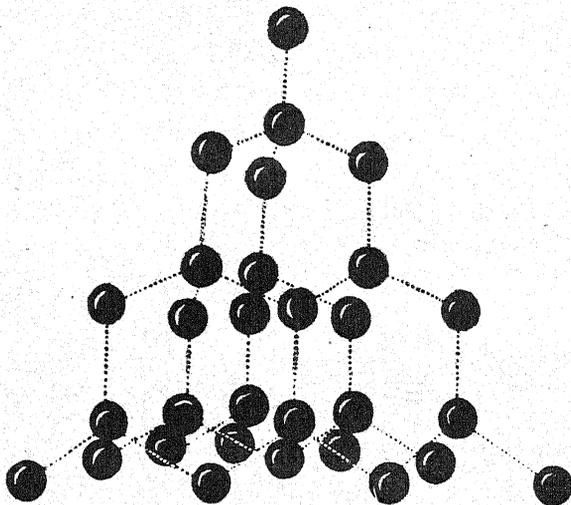
हीरा में कार्बन के परमाणुओं का सजाव
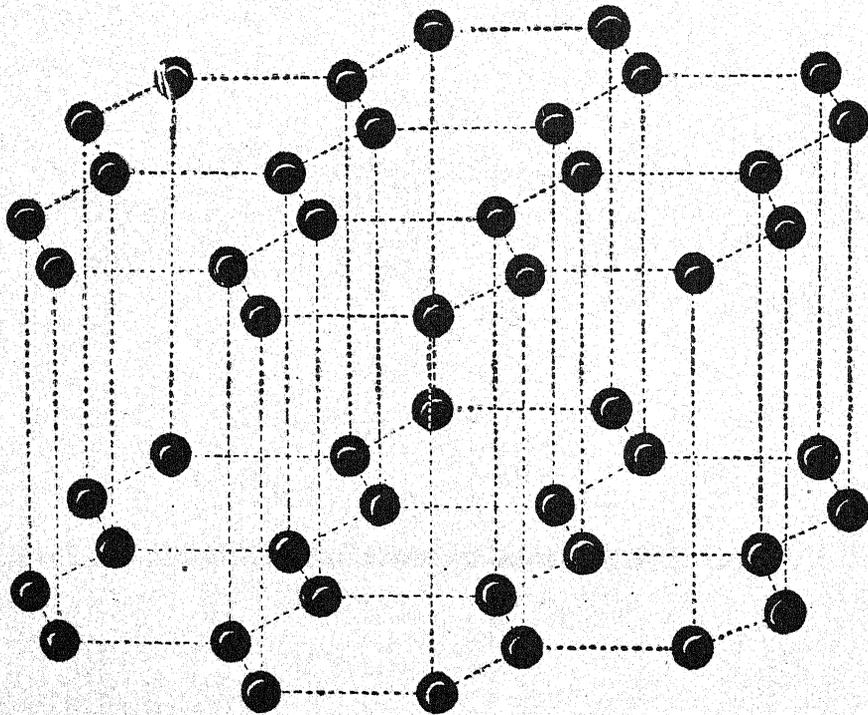
ग्रफ़ाइट में कार्बन के परमाणु दूसरे ही ढंग से स्थित रहते हैं। हीरा और ग्रफ़ाइट का अंतर परमाणुओं के सजाव की विभिन्नता के ही कारण होता है।

और वह फिर क्रियाशील हो जाता है। पानी को साफ़ करने का कोयला भी समय-समय पर बदल देना चाहिए, नहीं तो उसके द्वारा शोषित गंदगी कीटाणुओं के पनपने का आधार बन जाती है।

पिछले संसारव्यापी युद्ध के समय से पेट्रोल की कमी के कारण मोटरकारें 'चारकोल गैस-प्लांटों' द्वारा चलाई जाती हैं। इनमें इंजिन में जलनेवाला कार्बन मोनॉक्साइड का गैसीय ईंधन लकड़ी के कोयले पर हवा की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है।

लकड़ी का कोयला ताप और विद्युत् का परिचालक नहीं होता, इसलिए उसका उपयोग बिजली की सेलों तथा अन्य यन्त्रों के बनाने में नहीं होता।

**'हड्डी का कोयला'** अथवा 'प्राणि-चारकोल' हड्डियों को लोहे के रिटार्टों में गर्म करके बनाया जाता है। हड्डियों के वाष्पशील पदार्थ स्रवित होकर अन्य पात्रों में इकट्ठे हो जाते हैं और रिटार्टों में केवल हड्डी का कोयला रह जाता है। इसमें अमणिभ कार्बन केवल १० प्रतिशत ही रहता है, शेष ८० प्रतिशत कैल्शियम फ़ास्फ़ेट और १० प्रतिशत कैल्शियम कार्बोनेट आदि होते हैं। इस कोयले में घोलों में से गंदी गैसों और रंगदार घुले हुए द्रव्यों को शोषित कर लेने की विलक्षण शक्ति होती है। गुड़ के शरबत अथवा नील या कोई कार्बनिक रंग के घोल में हड्डी का कोयला मिला दीजिए, और मिश्रण को खूब चलाकर छन्ना काग़ज़ से छान लीजिए। आप देखेंगे कि स्वच्छ रंगहीन शर्बत अथवा पानी ही छनकर निकलता है। उसी प्रकार हाइड्रोजन सल्फ़ाइड आदि कोई गंधयुक्त गैस पानी में घोलकर और उसमें हड्डी का कोयला मिलाकर उसे छान लीजिए, तो छनता हुआ पानी बिल्कुल गंधहीन होगा। अपने इसी गुण के कारण हड्डी का कोयला शक्कर आदि को साफ़ करने में उपयुक्त होता है। भारतवर्ष में इसका व्यवहार शक्कर की मिलों में बहुत कम होता है; कारण, अधिकतर हिंदू उसे अपवित्र समझते हैं (दे० पृ० २०६६)। प्रयुक्त प्राणि-चारकोल को लोहे में रक्त-तप्त करने से वह फिर क्रियाशील हो जाता है।

हड्डी के कोयले को हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के घोल के साथ उबालने से उसके कैल्शियम फ़ास्फ़ेट आदि लवण घुल जाते हैं और छानने से प्रायः शुद्ध चारकोल निकल आता है। उसे 'आइवरी ब्लैक' (Ivory black) कहते हैं, क्योंकि यह रँगने के काम में आता है। वध किए हुए जानवरों के रुधिर को हड्डी की तरह रिटार्टों में जलाने से 'रुधिर का कोयला' बनाया जाता है। इसमें भी हड्डी के कोयले जैसे गुण होते हैं।

**'काजल या कालिख'** मिट्टी के तेल के लैम्पों के ऊपरी ढक्कन के भीतर जमा हुआ मिलता है, इसीलिए अंग्रेज़ी में इसे 'लैम्प-ब्लैक' कहते हैं। बग़ैर चिमनी के चिराग़ों और लैम्पों की लौ से काजल अधिक मात्रा में निकलता है, कारण चिमनी की अनुपस्थिति में लौ को निरंतर वायुधारा नहीं मिलती और तेल का बहुत-सा कार्बन बिना जले ही निकल जाता है। बड़े परिमाणों में काजल मिट्टी का तेल, तारपीन का तेल, अलकतरा, मोम आदि ऐसे कार्बनिक पदार्थों को अपर्याप्त हवा में जलाकर बनाया जाता है, जो कार्बन के धनी होते हैं। इनके धुएँ को एक ऐसे कोठे में ले जाया जाता है, जिसमें मोटे कंबल लटके रहते हैं। धुएँ से काजल के कण कंबलों के पृष्ठ पर निक्षिप्त हो जाते हैं। आधुनिक विधि में धुआँ ऐसे कोठे में प्रविष्ट होता है, जिसमें धातु के प्लेट और उनके बीच-बीच में धातु के बने तार लटके रहते हैं। प्लेट और तार ऊँचे वोल्टेज (२०,००० वोल्ट) की बिजली से आविष्ट कर दिए जाते हैं, और प्लेटों पर वही आवेश रक्खा जाता है, जो धुएँ के कणों के आवेश से विरुद्ध हो। काजल के कण कोठे में पहुँचकर प्लेटों की ओर आकर्षित हो जाते हैं और उन पर लगकर विसर्जित हो जाते हैं। इस प्रकार निरंतर निक्षेप द्वारा जब काजल के कण बड़े हो जाते हैं तो वे झड़कर कोठे की फ़र्श पर जमा होने लगते हैं।

अमेरिका में काजल प्राकृतिक गैस को जलाकर तैयार किया जाता है। एक कुण्डलाकार नली के छेदों से निकलकर गैस जलती है, और इस प्रकार जलती हुई अनेकों ज्वालाओं से निकलती हुई कालिख ऊपर घूमते हुए लोहे के एक पात्र के बाहरी पृष्ठ पर जमती और चाक़ू द्वारा खुरचकर एक शंकु-रूप 'हॉपर' में गिरती हुई थैलों में इकट्ठी होती रहती है। इस प्रकार बने हुए काजल को 'गैस ब्लैक' या 'कार्बन ब्लैक' कहते हैं।

टायर बनाने की रबड़ में बहुत-सी कालिख छोड़ी जाती है। लिखने, रँगने और छापने की काली स्याहियाँ और जूते की पालिश बनाने में भी उसका उपयोग होता है।

कालिख में थोड़े-से तैलीय अपद्रव्य रहते हैं। उसे क्लोरीन गैस की धारा में गर्म करने से वे भी निकल जाते हैं और सर्वथा शुद्ध कार्बन बन जाता है।

काजल के अत्यन्त छोटे कणों के बीच हवा भिदी रहने से वह बहुत ही हलका होता है, किंतु वायुमुक्त अवस्था में वह भी पानी से १·७ गुना भारी होता है। ताप और विद्युत् का यह भी परिचालक नहीं होता।

शकर के ताप-विच्छेदन द्वारा जो कार्बन रह जाता है, उसे **'शकर का कोयला'** कहते हैं। यह सबसे शुद्ध चारकोल होता है, और जो रही-सही हाइड्रोजन का लेश-मात्र उसमें रह जाता है वह क्लोरीन में गर्म करने से उससे निकल जाता है। इस कोयले का प्रयोग रसायन में शत प्रतिशत शुद्ध कार्बन की भाँति होता है। उसके जल जाने पर ज़रा भी राख नहीं बचती।

पत्थर के कोयले को रिटार्ट में हवा की अनुपस्थिति में गर्म करने से विभिन्न गैसीय तथा वाष्पशील पदार्थ निकल जाते हैं और एक छिद्रमय हलका कोयला बच रहता है, जिसे **'कोक'** कहते हैं। उस कोक के गुण पत्थर के कोयले की क़िस्म और उसके गर्म करने की अवस्थाओं पर निर्भर रहते है, लेकिन प्रधानतः उसका वर्गीकरण दो प्रकारों में किया जाता है—'सॉफ़्ट कोक' और 'हार्ड कोक'। पहली किस्म काली, और दूसरी गहरी भूरी, अधिक भारी, बहुत चमकदार और अत्यधिक दबाव पर टूटनेवाली होती है। 'साफ़्ट कोक' घरों में ईंधनों के काम आता है और 'हार्ड कोक' धातुओं के निर्माण में ऑक्साइडों को धातुओं में अवकृत करने, भट्टियों में जलाने और विभिन्न निर्माण-विधियों में मीनारों को भरने के काम आता है।

भारतवर्ष के शहरों में इधर लगभग दस वर्षों से 'साफ़्ट कोक' ईंधन का घरेलू प्रचार बहुत हुआ है। यह मुश्किल में आँच पकड़ता है, लेकिन एक बार दहक उठने के बाद बेधुआँदार तेज़ आँच के साथ बहुत देर तक जलता है। पेट्रोलियम के अलकतरे के स्रवण से जो पदार्थ बच रहता है उसे 'पेट्रोलियम कोक' कहते हैं। यह घरेलू ईंधन और ग्रफ़ाइट बनाने के काम में आता है।
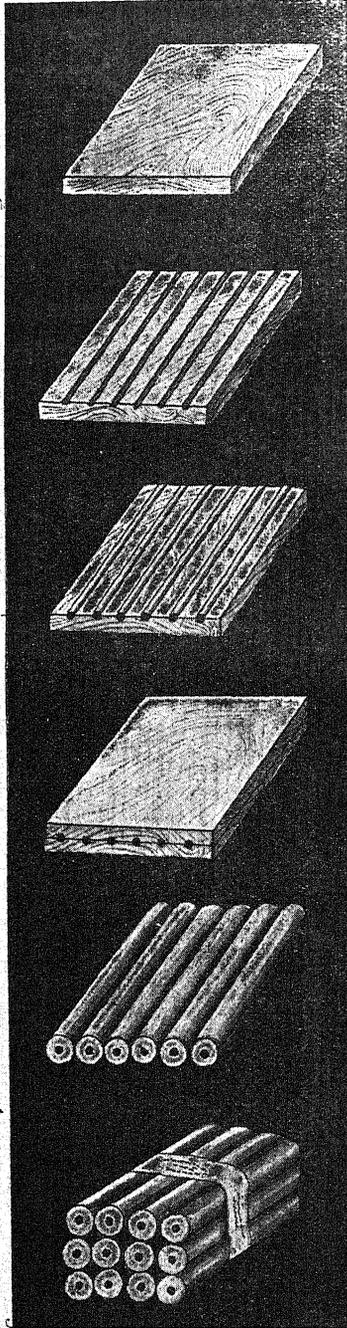
**पेन्सिलों का निर्माण**
**लकड़ी के तख़्ते में सूराख करके, फिर उसे बीच से काट कर और इस प्रकार बनी हुई नालियों में ग्रफ़ाइट की बत्तियाँ लगाकर पेन्सिलें किस प्रकार तैयार की जाती हैं, यह इस चित्र में प्रदर्शित है।**

जिन रिटार्टों में पत्थर का कोयला गर्म किया जाता है, उसके भीतरी पृष्ठ के ऊपरी भागों में एक कठोर प्रकार का कार्बन जम जाता है। इसे **'गैस कार्बन'** कहते हैं। यह प्रायः शुद्ध कार्बन और पानी से लगभग ढाई गुना भारी होता है। यह कार्बन ताप और बिजली का अच्छा संचालक होता है। अतः अपने इस विशेष गुण के कारण वह बिजली की सेलों, भट्टियों, आर्कलैम्पों आदि के इलेक्ट्रोड बनाने के काम में आता है।

कार्बन के मणिभीय रूपांतरों का कृत्रिम निर्माण बिजली के उपयोग से किया जाता है। ग्रफ़ाइट अमेरिका के नियाग्रा प्रपात के निकट, बिजली अत्यन्त सस्ती होने के कारण, बनाया जाता है। पिसा हुआ पेट्रोलियम-कोक अथवा एंथ्रासाइट कोयला थोड़ी-सी बालू के साथ मिलाकर बिजली की एक आयताकार भट्टी में भर दिया जाता है। इसे बालू और कोयले के मिश्रण से ढककर बिजली की प्रबल आती-जाती धारा (ए० सी०) द्वारा २४ से ३० घण्टे तक उत्तप्त करते रहते हैं। यह धारा कार्बन के दो डंडों के बीच रुकती हुई कार्बन की छड़ों से होकर प्रवाहित होती है। भट्टी का तापक्रम **३५००°C तक पहुँचता है और उसमें**

ऐसी रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, जिनसे कार्बन ग्रफ़ाइट में बदल जाता है। बालू अर्थात् सिलिकन डाइ-ऑक्साइड ($SiO_2$) पर कार्बन की क्रिया द्वारा सिलिकन कार्बाइड ( SiC ) बनता हैं और बालू की ऑक्सिजन कार्बन के संयोग से कार्बन मानॉक्साइड गैस ( CO ) में परिणत होकर निकल जाती है। भट्टी के ऊँचे तापक्रम पर सिलिकन कार्बाइड सिलिकन और ग्रफ़ाइट-रूप कार्बन में विच्छिन्न हो जाता है। सिलिकन वाष्प-रूप में उड़ जाता है और ग्रफ़ाइट रह जाता है।

ग्रफ़ाइट का रंग भूरा काला होता है और उसमें धातुओं की-सी चमक होती है। पानी से वह २। गुना और लकड़ी के कोयले से लगभग ड्योढ़ा भारी होता है। वह बहुत ही कोमल और छूने में चिकना होता है—उसके अणु एक दूसरे पर से अत्यन्त सरलता से फिसल सकते हैं। इसीलिए वह मशीनों में दिये जानेवाले तेल के स्थान में व्यवहृत होता है। कृत्रिम ग्रफ़ाइट बहुत ही शुद्ध और कंकड़ी-रहित होता है। धातुपृष्ठों को चिकनाने और दानेदार बारूद को पालिश करने के लिए भी वह उपयुक्त होता है। कोमल होने के कारण ग्रफ़ाइट द्वारा काग़ज़ पर लिखा जा सकता है। ग्रीक भाषा में 'ग्रफ़ीन' का अर्थ 'लिखना' होता है, अतः ग्रफ़ाइट का नाम अपने इसी गुण पर पड़ा है। अपने इसी गुण के कारण वह पेन्सिल बनाने में उपयुक्त होता है। इस काम के लिए प्राकृतिक ग्रफ़ाइट का व्यवहार होता है। पहले इसे पीस और धोकर उसमें यदि कोई कंकड़ियाँ हुई तो निकाल डाली जाती हैं। फिर सुखाकर उसे कंकड़ीरहित चिकनी मिट्टी के साथ अत्यन्त महीन पीस लिया जाता है। बत्तियों को बनाने में इस मिश्रण को पानी के साथ गूँधकर जलप्रेरित दबाव द्वारा गोल छेदों में से निकाला जाता है। इन्हें सुखाकर पेन्सिल की लम्बाई के बराबर के टुकड़ों में तोड़ लिया जाता है। पेन्सिल को जितनी ही कड़ी ( हार्ड ) बनाना होता है, उतनी ही अधिक चिकनी मिट्टी ग्रफ़ाइट के साथ मिलाई जाती है। सबसे कड़ी अर्थात् "HHHH" और "HH" पेन्सिलों में सबसे अधिक चिकनी मिट्टी रहती है और सबसे नरम अर्थात् "HB" और "BB" पेन्सिलों में सबसे कम। बत्तियों को किसी लकड़ी से ढक कर मशीनों द्वारा पेन्सिलें किस प्रकार तैयार कर ली जाती हैं, यह पृ० २६६८ के चित्र से स्पष्ट है। सीसे की तरह चमकदार और भूरी-काली होने के कारण पहले लोग ग्रफ़ाइट को 'प्लम्बैगो' और 'काला सीसा' के नाम से पुकारते थे—वे यह न पहचान सके थे कि वह कार्बन का एक प्रायः शुद्ध रूपांतर है। इसीसे पेन्सिलों को अबतक लोग 'ग्रफ़ाइट पेन्सिल' न कहकर 'लेड पेन्सिल' ही कहते हैं, यद्यपि पेन्सिल में सीसे ( लेड ) का नाममात्र भी नहीं होता!

ग्रफ़ाइट ताप और बिजली का अच्छा संचालक होता है, इसी कारण वह बिजली के कोष्ठों और भट्टियों के इलेक्ट्रोडों ( विद्युत्-द्वारों ) के बनाने में बहुत काम आता है। विद्युत्-मुद्रण* में भी इसीलिए उसका उपयोग होता है। ग्रफ़ाइट, चिकनी मिट्टी और बालू का मिश्रण धातुओं को पिघलाने की मूषाएँ ( घरियाँ ) बनाने और कैल्शियम, अलुमीनियम आदि धातुओं का निर्माण करनेवाले विद्युत्-कोष्ठों की भीतरी सतह को मढ़ने में व्यवहृत होता है।

हीरे के कृत्रिम उत्पादन की विधि का आविष्कार फ्रांस के रसायनशास्त्री मोयसाँ ने सन् १८९३ में किया था। उसने बिजली की एक भट्टी में लोहे और कुछ शुद्ध कार्बन ( शकर के कोयले ) का मिश्रण ग्रफ़ाइट की मूषा में रखकर लगभग ३५००°C तक गर्म किया। लोहा लगभग १५००°C पर ही पिघल जाता है और पिघले हुए लोहे में कार्बन घुल जाता है। अतः इस प्रकार तरल लोहे में कार्बन का एक घोल तैयार हो गया। इस मूषा को पिघले हुए शीशे ( ३२७°C ) में बुझा लिया गया। इससे पिघले हुए मिश्रण की बाहरी तह जमकर ठोस और दृढ़ हो गई। कार्बनयुक्त पिघला हुआ लोहा ठंढा होने पर प्रसारित होता है, किन्तु ऊपरी तह के ठोस लोहा में परिणत हो जाने के कारण अन्दर के पिघले हुए द्रव्य को प्रसार के लिए स्थान न मिल सका। अतएव अन्दर इतना घोर दबाव पैदा हुआ कि ठंडा होने पर कार्बन अपने अधिक घने रूपों—ग्रफ़ाइट और हीरा—में मणिभित हो गया। जमे हुए लोहे को ठंडा हो जाने के बाद हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में छोड़ दिया गया, जिससे लोहा घुल गया और ग्रफ़ाइट, काले हीरे ( बोर्ट ) और रंगहीन हीरे बच रहे। इस विधि से बहुत ही छोटे-छोटे हीरे बनते हैं, उनका व्यास ½ मिलीमीटर तक भी मुश्किल से पहुँचता है।

*छपाई की इस विधि में मोम अथवा दूसरे पदार्थ का बना हुआ साँचा ग्रफ़ाइट के एक पृष्ठ से ढक लिया जाता है और उस पर बिजली द्वारा ताँबा धातु अथवा अन्य धातु विक्षिप्त कर ली जाती है। इस प्रकार ढले हुए टाइपों के पीछे सीसा अथवा ऐसी ही कोई अन्य धातु उन्हें मजबूत करने के लिए लगा ली जाती है। फिर उनसे छपाई होती है।
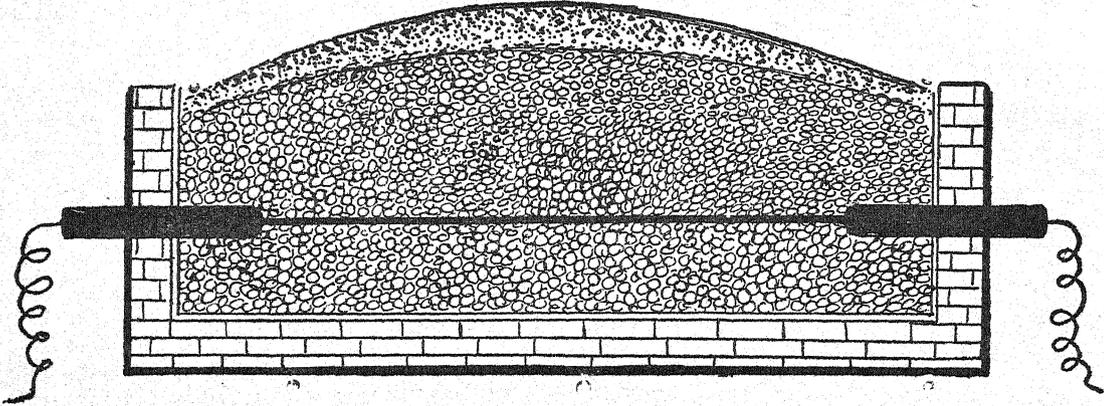
कोयले को ग्रफ़ाइट में परिणत करनेवाली बिजली की भट्टी

इसमें बालू और पेट्रोलियम-कोक अथवा ऐंथ्रासाइट कोयले का मिश्रण ३५००°C तक गर्म होता है। कार्बन से संयुक्त होकर बालू ( सिलिकन-डाइऑक्साइड ) की ऑक्सिजन कार्बन मोनॉक्साइड के रूप में निकल जाती है और सिलिकन कार्बाइड में बदल जाता है। तापक्रम ऊँचा उठाने पर यह कार्बाइड विच्छिन्न हो जाता है । सिलिकन बाष्प रूप में उड़ जाता है और कार्बन ग्रफ़ाइट रूप में रह जाता है। आविष्कर्त्ता के नाम पर इस विधि को 'एचिसन की विधि' कहते हैं।

हीरा संसार की कठोरतम वस्तु है। काले हीरे नगीनों के काम के नहीं होते, इसीलिए वे कड़े पत्थर तथा शीशा काटने और पत्थरों में सूराख करने की बर्मियों के बनाने में व्यवहृत होते हैं। इन्हीं का चूर्ण रंगहीन हीरों को चिकनाने में भी काम आता है। हीरा कार्बन के अन्य सभी रूपों से घना होता है—उसका आपेक्षिक घनत्व ३'५ होता है। पारदर्शक वस्तुओं में हीरे की वर्त्तकता (प्रकाश-किरणों के मार्ग को मोड़ देने की शक्ति) सबसे ऊँची होती है। शीशे का वर्त्तनांक १'५० तो हीरे का २'४५ होता है। इसीलिए बहुत-सी प्रकाशकिरणें उसके पृष्ठ पर से लौट आती हैं और वह चमकने लगता है। आभूषणों में व्यवहार के लिए हीरा ऐसे रूप में काटा जाता है कि उसमें से प्रकाश का परावर्त्तन अधिकतम हो। कोहिनूर का १८६ कैरट से १०६ कैरट में काटा जाना इसीलिए आवश्यक था। एक्स - किरणों के लिए हीरा पारदर्शक और शीशा अपारदर्शक होता है। दोनों वस्तुओं के भेद की परीक्षा इस प्रकार सरलता से हो सकती है। हीरा शीशे की भाँति बिजली का संचालक नहीं होता।

## रासायनिक गुण

कार्बन तत्त्व, चाहे वह किसी भी रूप में हो, ऑक्सिजन से संयुक्त होकर अपनी आक्साइडों में बदल जाता है। ऑक्सिजन की अपर्याप्त मात्रा में कार्बन मोनॉक्साइड ( $CO$ ) और उसकी अधिकता में कार्बन डाइआक्साइड ( $CO_2$ ) उत्पन्न होती है। कार्बन-ऑक्सिजन का संयोग तापोत्पादक होता है, और घरेलू अँगीठियों और चूल्हों, कारखानों की भट्ठियों और इंजिनों के ब्वॉयलरों में यही ताप व्यवहृत होता है। कार्बन के विभिन्न रूप विभिन्न तापक्रमों पर आँच पकड़ते हैं। जो रूप जितना ही छिद्रमय, हलका और असंगठित बनावट का होता है, उतने ही कम तापक्रम पर आँच पकड़नेवाला और सरलता से जलनेवाला होता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी का कोयला सबसे अधिक सरलता से, साफ्ट कोक अधिक कठिनता से और ग्रफ़ाइट तथा हीरा अधिकतम कठिनता से आग पकड़ते हैं। जहाँ कार्बन के अमणिभ रूप ५००°C के नीचे तक ही गर्म करने पर जलने लगते हैं, वहाँ ग्रफ़ाइट ६५०°C तक और हीरा ८५०°C तक गर्म करने पर जलते हैं।

कार्बन केवल मुक्त ऑक्सिजन से ही नहीं, वरन् तप्तावस्था में धातुओं की ऑक्साइडों से भी ऑक्सिजन निकालकर उससे संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार धातुओं की आक्साइडें धातुओं में बदल जाती हैं। इसी अल्पकारी गुण के कारण कोक लोहा, जस्ता, राँगा, सीसा आदि धातुओं और फ़ास्फरस अधातु के उत्पादन में व्यवहृत होता है। रक्त-तप्त कार्बन भाप से भी ऑक्सिजन निकालकर उससे संयुक्त हो जाता है:—

$$H_2O + C = H_2 + CO$$
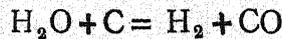
इस प्रकार हाइड्रोजन और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों का मिश्रण ईंधन के काम में लाया जाता है। ये दोनों गैसें प्रज्वलनशील होती हैं, और उनके मिश्रण को जल की क्रिया
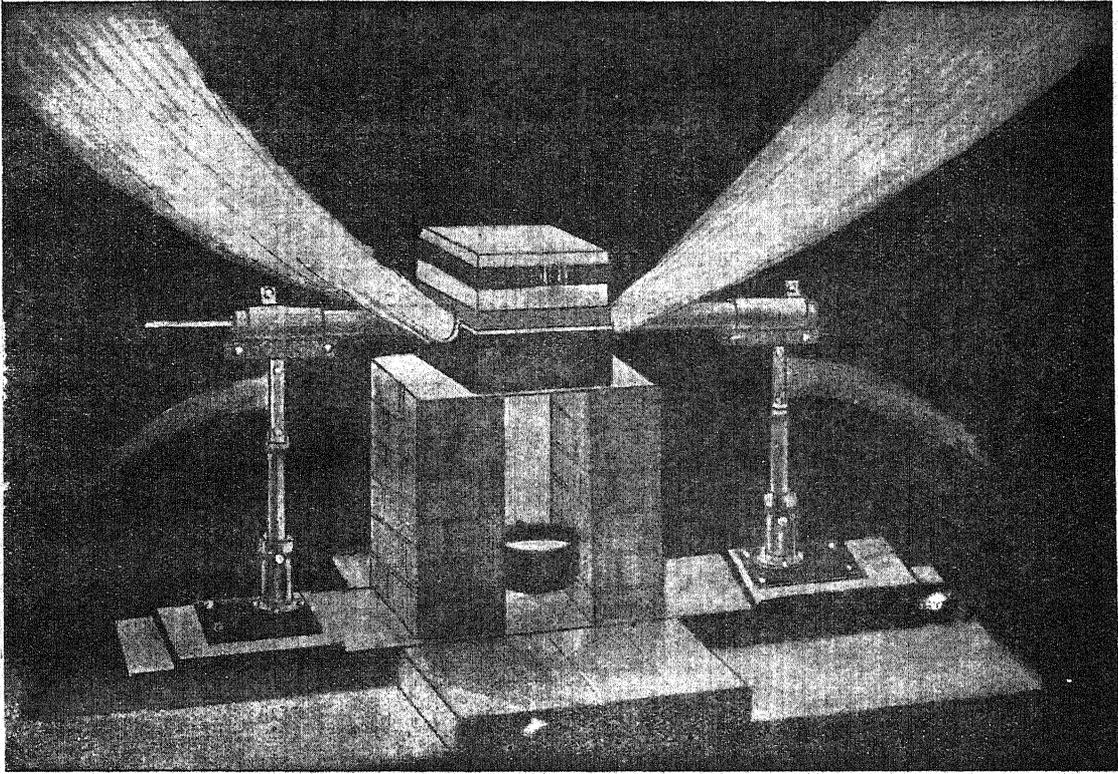
**मोयसाँ की बिजली की भट्टी**

इसी भट्टी के उपयोग से मोयसाँ ने कोयले से हीरे का कृत्रिम उत्पादन किया था। कार्बन अथवा ग्रफ़ाइट के दंड, जो विद्युत-द्वारों का काम करते हैं, पहले से खिसकाकर एक दूसरे से लगा दिए जाते हैं। विद्युत्-धारा को खोलकर जब वे अलग किए जाते हैं तो उनके बीच में दमकते हुए कार्बन वाष्प का एक बिजली का चाप उत्पन्न हो जाता है। इसका तापक्रम ३५००°C तक जाता है।

से प्राप्त करने के कारण पानी की गैस (Water gas) कहते हैं।

रक्ततप्त कार्बन गंधक के वाष्प से संयुक्त होकर कार्बन डाइसल्फाइड में परिणत होता है। यह द्रव कार्बनिक पदार्थों का एक महत्त्वपूर्ण घोलक है और विषाक्त होने के कारण चूहों और कीड़ों को मारने में व्यवहृत होता है।

### अद्भुत तत्त्व

अपनी किस विशेषता के कारण कार्बन जीव-जगत् के तत्त्वों का नायक बन बैठा है? इस प्रश्न का उत्तर सन् १८३१ से लेकर सन् १८६५ तक के कालांतर में जर्मनी के प्रसिद्ध रसायनशास्त्रियों फ्रेडरिश वोलर, जस्टस वॉन लीबिग और फ्रेडरीश आगस्ट केकुले के वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा दिया जा सका। कार्बनिक रसायन के विकास का श्रेय वास्तव में जर्मनी को ही प्राप्त है, और यही कारण है कि गत महायुद्ध के पहले तक रंगों आदि कार्बनिक पदार्थों के निर्माण में वह अगुआ रहा है। सन् १८५८ में केकुले ने यह बताया कि चार संयोजन-शक्तियोंवाले कार्बन के परमाणु में परस्पर छोटी अथवा बड़ी लड़ियों के रूप में संबद्ध हो जाने की अद्भुत सामर्थ्य होती है—

$$-\overset{|}{\underset{|}{C}}-\overset{|}{\underset{|}{C}}-\overset{|}{\underset{|}{C}}-\overset{|}{\underset{|}{C}}-\overset{|}{\underset{|}{C}}-$$
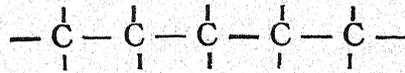
न जाने कितने कार्बनिक यौगिकों के अणुओं में कार्बन-परमाणुओं की इस प्रकार की छोटी-बड़ी शृंखलाएँ रहती हैं। कार्बन परमाणुओं के आस-पास शेष संयोजन बंधकों द्वारा उन शृंखलाओं से हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, हैलोजन, आदि कुछ तत्त्व एक-एक अथवा समूहों में नाना

प्रकार से संबद्ध होकर विभिन्न अणुओं की रचना करते हैं। सन् १८६५ में केकुले ने यह भी बताया कि बहुधा छः-छः कार्बन परमाणुओं की लड़ियाँ फिर अपने से जुड़ जाती हैं। अपने इन अनुसंधानों में मस्त रहता हुआ केकुले बहुधा ध्यान-मग्न हो जाता था और सोते हुए इसी संबंध में स्वप्न देखा करता था। तब परमाणु नाना प्रकार से उसके सामने नाच उठते थे। अपने एक ध्यान में उसने कार्बन-परमाणुओं को मुक्त लड़ियों में जुड़ते हुए देखा था। जब भी वह ऐसे स्वप्न देखता, तो जागने पर उनके रेखा-चित्र बना लेता। एक बार उसने स्वप्न में देखा कि कार्बन-परमाणुओं की एक जंज़ीर के सिरे आपस में जुड़ गए—एक सर्प ने अपनी ही पूँछ को मुँह में दाब लिया। बेंज़ीन ($C_6H_6$ दे० पृ० १६६० ) के अणु की छः कार्बन-परमाणुओं की बद्ध श्रृंखलाओं का आविष्कार इसी प्रकार से हुआ। उसने इस लड़ी को षटकोण के आकार में प्रकट किया। इस स्वप्न को उसने प्रकाशित तभी किया, जब प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर लिया कि वह सच्चा था। उसके कथनानुसार हमें अपने ऐसे स्वप्नों को तभी प्रकाशित करना चाहिए, जब हम जागते हुए उनकी सत्यता को प्रमाणित कर लें। जिन यौगिकों में कार्बनों की केवल खुली लड़ियाँ रहती हैं, उन्हें 'मुक्तश्रृंखल यौगिक' और जिनमें बंद लड़ियाँ रहती हैं उन्हें 'बद्धश्रृंखल यौगिक' कहते हैं। सारे कार्बनिक यौगिक इन्हीं दो वर्गों में विभक्त हैं। तेलों और चर्बियों के अवयवों में कार्बनों की लम्बी-लम्बी खुली लड़ियाँ रहती हैं, इसीलिए मुक्तश्रृंखल यौगिकों को 'वसीय यौगिक' ( Aliphatic Compounds ) भी कहते हैं। बद्ध-श्रृंखल यौगिक प्रायः सुरभिमय होते हैं, इसलिए इन्हें 'सुरभित यौगिक' ( Aromatic Compounds ) भी कहते हैं। छः-छः कार्बनों की बंद लड़ियाँ चित्र-सूत्र में षटकोणों के रूप में प्रदर्शित की जाती हैं। बहुधा इस प्रकार के दो या अधिक षट्कोण परस्पर संबद्ध हो जाते हैं। हम प्रस्तुत और आगे के पृष्ठ के चित्र-सूत्रों द्वारा कुछ सुपरिचित कार्बनिक पदार्थों के अणुओं की रचना प्रदर्शित कर रहे हैं।
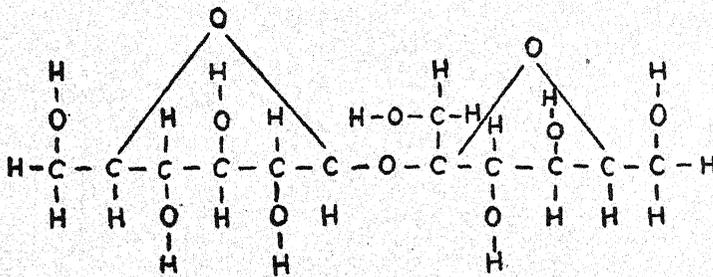
**गन्नेकी शकर ($C_{12}H_{22}O_{11}$)** गन्ने की शकर के अणु में कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु किस प्रकार परस्पर संबद्ध रहते हैं, यह बाईं ओर के इस चित्र-सूत्र से व्यक्त है।
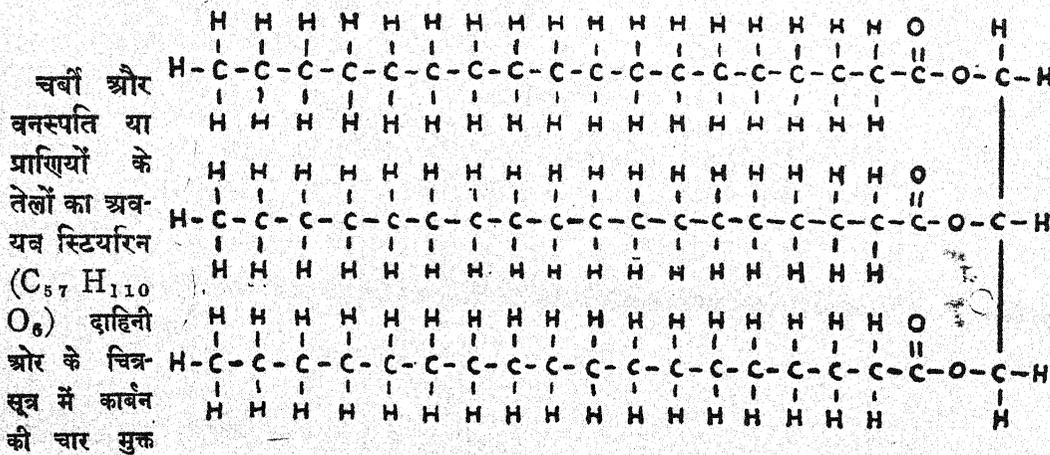
**चर्बी और वनस्पति या प्राणियों के तेलों का अवयव स्टियरिन ($C_{57}H_{110}O_6$)** दाहिनी ओर के चित्र-सूत्र में कार्बन की चार मुक्त श्रृंखलाओं के आस-पास हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु संबद्ध हैं। कार्बन की चार, ऑक्सिजन की दो, और हाइड्रोजन की एक संयोजन शक्तियाँ उनके परमाणुओं के आसपास की रेखाओं की संख्या द्वारा प्रदर्शित हैं।
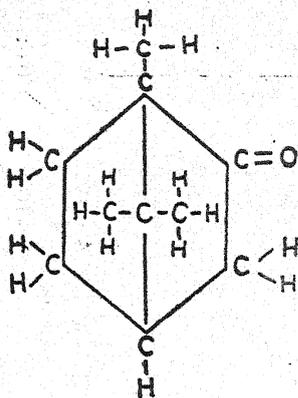
**कपूर ( $C_{10}H_{16}O$ )**

यह और इसके बाद दिए हुए पदार्थ 'बद्ध-शृंखल' अथवा 'सुरभित' यौगिक हैं। बेन्ज़ीन के छः कार्बन परमाणुवाले षटकोण के आसपास कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणुओं के इस प्रकार संबद्ध हो जाने से कपूर का अणु बनता है। आजकल कपूर कृत्रिम रीति से भी बनाया जाता है।
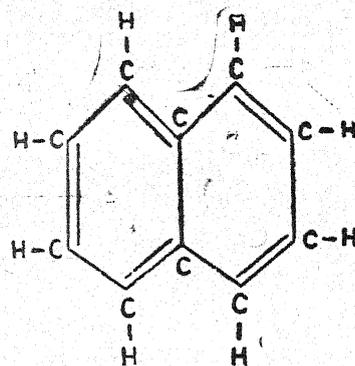
**नैफ्थलीन ( $C_{10}H_8$ )**

नैफ़्थलीन के अणु में बेन्ज़ीन के दो षटकोण संबद्ध रहते हैं। यह कोलतार से निकाला जाता है और उससे अन्य परमाणुओं को संबद्ध करके नाना प्रकार के कार्बनिक यौगिक तैयार कर लिए जाते हैं।
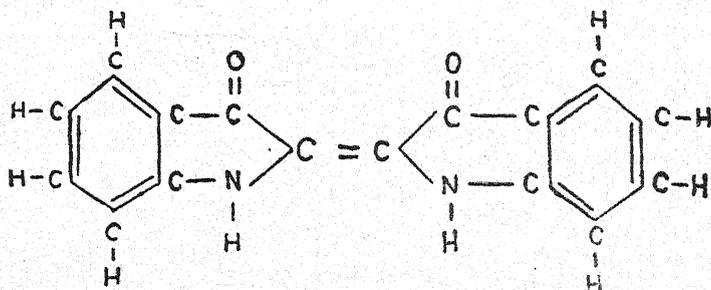
**नील ( $C_{16}H_{10}O_2N_2$ )**

नील के अणु में बेन्ज़ीन के दो षट-कोणों के आसपास और बीच में अन्य परमाणु इस प्रकार संबद्ध रहते हैं। इसके कृत्रिम उत्पादन ने भारत वर्ष की नील की खेती को ख़त्म कर दिया था। इसमें तथा कुनीन, रंग, आदि अनेक यौगिकों में सुरभि नहीं होती, तथापि वर्गीकरण की दृष्टि से इन सबकी गणना 'सुरभित यौगिकों में होती है। ( दे० बायाँ चित्र )

**कुनीन ( $C_{20}H_{24}N_2O_2$ )**

कुनीन के अणु में एक नैफ़्थलीन और एक बेन्ज़ीन की शृंखलाओं के आसपास अन्य परमाणु इसी प्रकार स्थित रहते हैं। यही अणु जूड़ी के कीटाणुओं का घातक होता है।
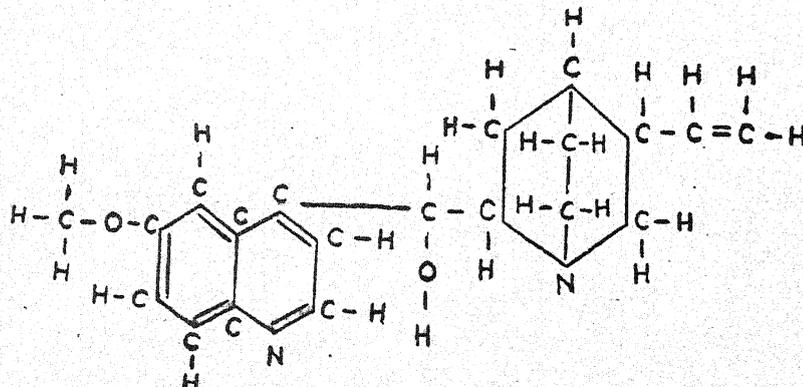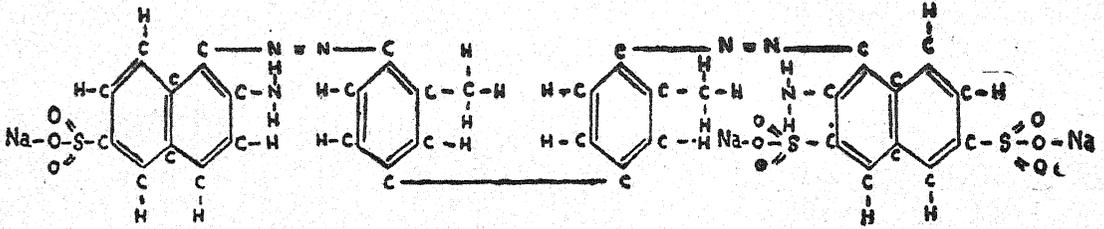
'ब्रिलियंट कांगो' नामक कृत्रिम लाल रंग ( $C_{34} H_{25} O_9 N_6 S_3 Na_3$ )

यह कृत्रिम रंग नैफ्थलीन और बेंज़ीन की दो-दो श्रृंखलाओं को इसी प्रकार संबद्ध करके और उनसे कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, गंधक और सोडियम के परमाणुओं को इस तरह संयुक्त करके तैयार किया जाता है। यह पदार्थ जीवजगत् में नहीं, केवल प्रयोगशाला में ही उत्पन्न होता है! रासायनिक कारीगरी का यह एक नमूना है।

इन चित्र-सूत्रों से कार्बन तथा कुछ अन्य तत्त्वों के परमाणुओं के विभिन्न प्रकार से संबद्ध होने का अनुमान हो सकता है। अनेकों जीव-पदार्थों, यथा स्टार्च, सेलुलोज़, प्रोटीनों आदि के अणुओं में हज़ारों परमाणु इतने उलझे हुए संयुक्त हैं कि उनका अणु-सूत्र अभी तक निर्धारित नहीं हो सका। कार्बन को छोड़कर और किसी भी तत्त्व में इस प्रकार श्रृंखलाओं के रूप में संबद्ध होने की शक्ति नहीं होती। इसीलिए अकार्बनिक यौगिकों में एक अणु में अधिकतर दो-चार और कभी-कभी दस-बीस परमाणु ही रहते हैं।

आपको यहाँ दिए हुए चित्र-सूत्र देखकर ज्ञात हुआ होगा कि बिना चित्र-सूत्र के कार्बनिक यौगिक की प्रकृति समझ लेना संभव नहीं। कार्बनिक रसायन में चित्र-सूत्र का महत्त्व इसीलिए बहुत अधिक है। बहुधा भिन्न-भिन्न कार्बनिक यौगिकों में विभिन्न तत्त्वों के उतने ही परमाणु रहते हैं, अर्थात् उन सबका अणु-सूत्र वही होता है, लेकिन अणु-रचना की विभिन्नता के कारण उनके गुणों में अंतर हो जाता है। इस प्रकार के यौगिकों को आइसोमर कहते हैं। $C_2H_6O$ अणुसूत्र के दो यौगिक एथिल अल्कॉहल ( $C_2H_5OH$ ) और मेथिल ईथर ( $CH_3OCH_3$ ) होते हैं, क्योंकि इनके चित्रसूत्र भिन्न होते हैं—

```
 H H             H   H
H-C-C-O-H       H-C-O-C-H
 H H             H   H
```

एथिल अल्कॉहल — मेथिल ईथर

$C_{10}H_{16}O$ अणुसूत्र के कपूर के अलावा ११६ और यौगिक होते हैं। अकार्बनिक जगत् में आइसोमर होते ही नहीं। आइसोमरिज़्म का यह सिद्धान्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक वोलर तथा उसके मित्र और सहयोगी लीबिग के आविष्कारों का फल है।

कार्बन की उपरोक्त विशेषताओं के ही कारण जहाँ अकार्बनिक यौगिकों की संख्या हज़ार दो हज़ार ही है, वहाँ कार्बन के ज्ञात यौगिकों की संख्या ढाई लाख से भी अधिक पहुँच चुकी है! वास्तव में कार्बन के यौगिकों की संख्या की कोई सीमा ही नहीं है, उसी प्रकार जैसे ईंटों से बनाए जानेवाले मकान की विभिन्न डिज़ाइनों की कोई सीमा नहीं होती। एक समय था जब वैज्ञानिक यह समझते थे कि जीव-कलेवरों में रहनेवाले कार्बनिक पदार्थों की उत्पत्ति ईश्वरीय शक्ति द्वारा ही हो सकती है, पर आज रसायनशास्त्री प्रयोगशालाओं के नाना कार्बनिक पदार्थों का निर्माण विभिन्न परमाणुओं अथवा परमाणुसमूहों को कार्बनों के आसपास अपनी इच्छानुसार बिठाकर एक से एक विचित्र पदार्थों का संश्लेषण कर लेता है—ऐसे पदार्थों का भी जिनका अस्तित्व जीव-जगत् में नहीं होता। नील तथा अन्य अनेकानेक सस्ते तथा सुंदर रंग उसी प्रकार निर्मित होते हैं। बहुत संभव है कि भविष्य में आटा, शकर, प्रोटीन, चर्बी आदि खाद्य पदार्थ का भी निर्माण कोयले, पानी और हवा से सस्ती विधियों द्वारा हो सके। तब हम आज की तरह अपनी जीविका के लिए खेती पर इतना अधिक निर्भर न रहेंगे!

इस प्रकार आपने देखा कि यह काला कार्बन कृष्ण की भाँति कुछ अन्य चुने हुए तत्त्वों के साथ नाना प्रकार की अद्भुत रासायनिक रास-लीलाओं को ठानकर जीव-जगत् का संचालन करता है! इस महान् तत्त्व के लिए यदि हम यह कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि यदि धरती पर कार्बन न होता, तो वह जीवनशून्य होती!

# पृथ्वी की कहानी
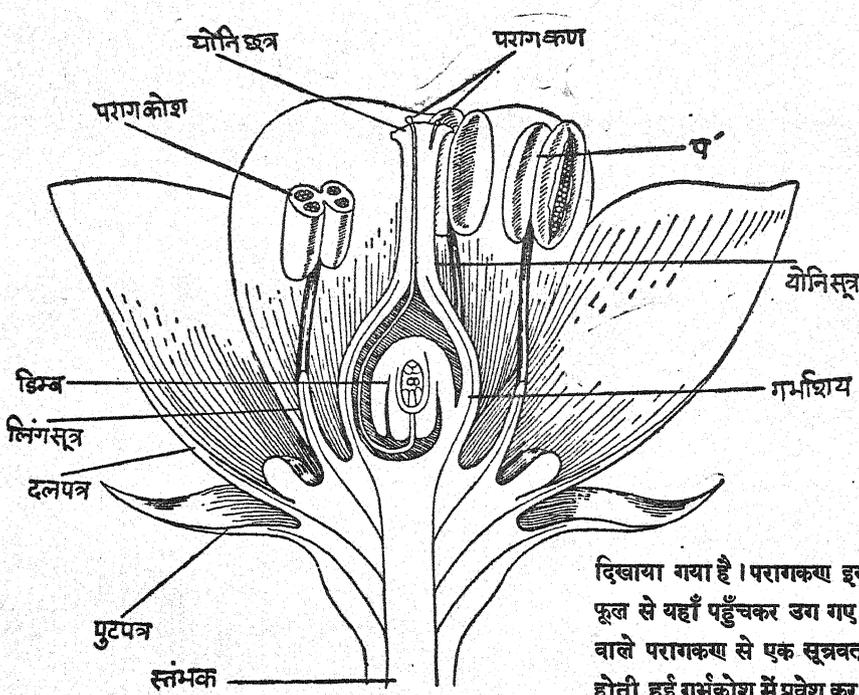
चि० १ यह एक आदर्श पुष्प का मानचित्र है, जिसमें उसे बीच से आधा चीरकर उसकी जननेन्द्रियाँ तथा अन्य भाग स्पष्ट दिखाए गए हैं। बाईं ओर का परागकोश काटकर दिखाया गया है। दाहिनी ओर के परागकोश प' में कपाटस्फोटन दिखाया गया है। परागकण इसी जाति के किसी दूसरे फूल से यहाँ पहुँचकर उग गए हैं। इनमें से बाईं ओर वाले परागकण से एक सूत्रवत् नली योनिनलिका से होती हुई गर्भकोश में प्रवेश कर गई है। यहाँ परागकण के दोनों नरनाभिक इस सूत्रवत् नली से बाहर आ गर्भकोश के अंदर एक अंड से और दूसरा आनुषंगिक नाभिक से मिलता है।

दलपत्र
मधुकोश
पुंकेसर
योनिनलिका
पुटपत्र
स्तंभक
पुष्पनाल
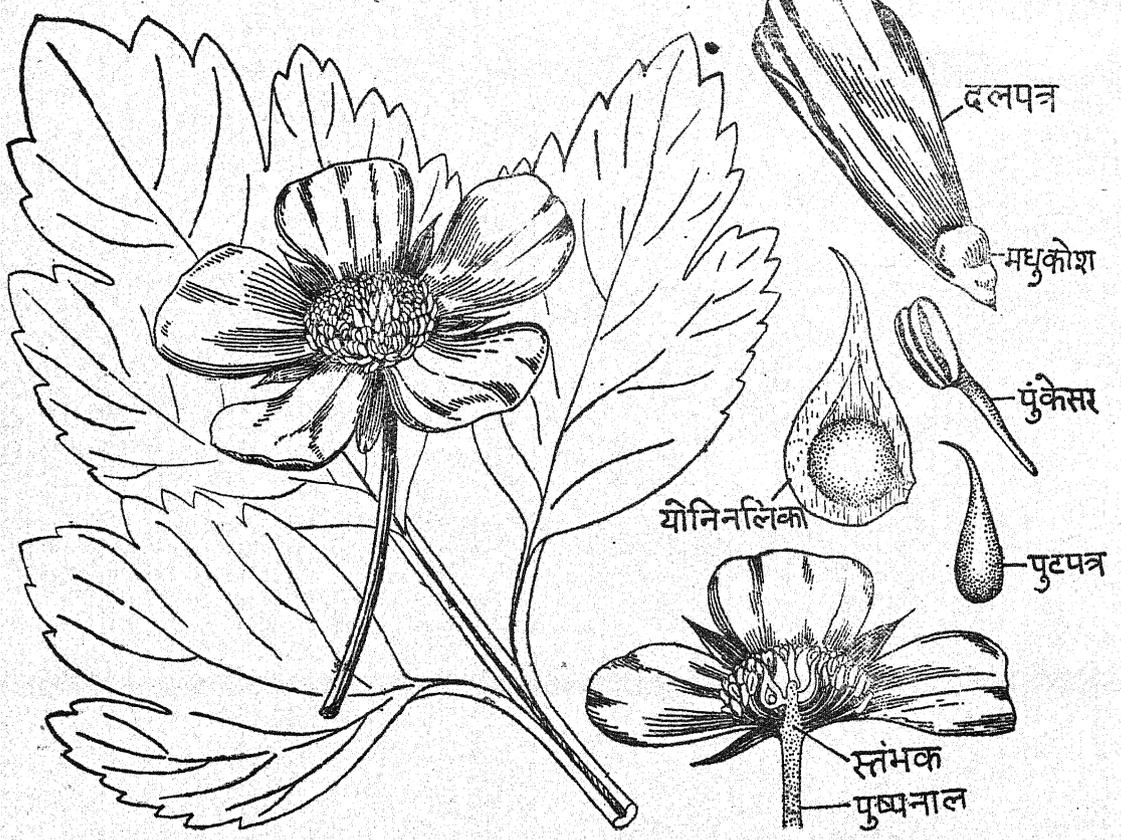
चि० २—देवकांडर (दाहिनी ओर पुष्प के विभिन्न अंगों को अलग-से चित्रित कर दिखाया गया है)
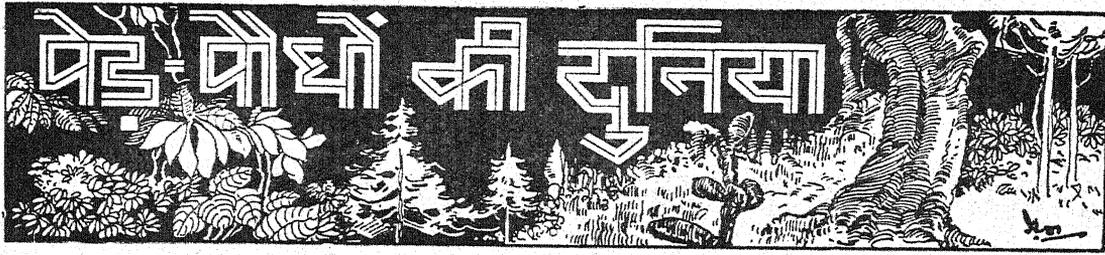
# पौधों के विशेषाङ्ग—फूल (१)

अब तक इस खंड में जिन बातों की चर्चा की गई है वे प्रायः पौधों के जड़, तना, पत्ती जैसे पोषक अंगों से ही सम्बन्ध रखती हैं। इन अंगों के आकार, आकृति, रचना आदि के भेद; साधारण, अनियमित, विशेष कार्य्य तथा रूप-रूपान्तर आदि लगभग सभी बातों पर न्यूनाधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। अब हम आपका ध्यान पौधों के विशेषाङ्ग—फूल, फल, बीज—की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, फूल में पौधे की जननेन्द्रियाँ रहती हैं (चित्र १), जिनके मेल से ही फल और बीज बनते हैं। रहस्यमयी प्रकृति की अपूर्व लीला से ये जननेन्द्रियाँ विविध रूप के सुवासित पर्दों की ओट में छिपी रहती हैं। पौधों के गूढ़तम रहस्य की टोह लगाने के लिए हमें विवश हो सारे आवरण हटाकर न केवल इनके अंग-प्रत्यंग का पाठकों को निःसंकोच दिग्दर्शन कराना होगा, वरन् साथ ही साथ इन सरस सुकोमल अंगों की नस-नस अलग कर इनके भीतरी रूप पर भी विचार करना होगा। आशा है, उदार-हृदय पाठक हमें इस धृष्ट व्यवहार के लिए क्षमा करेंगे।

हमारी कहानी का श्रीगणेश फूल से ही होता है। किसी अंश में पौधों के इस महत्वपूर्ण अंग की चर्चा पहले ही (देखिए पृ० २८४-२६०) की जा चुकी है; परन्तु जिन बातों पर अब हम विचार करना चाहते हैं उनकी यथार्थ जानकारी के लिए कुछ अधिक जाँच की आवश्यकता है।
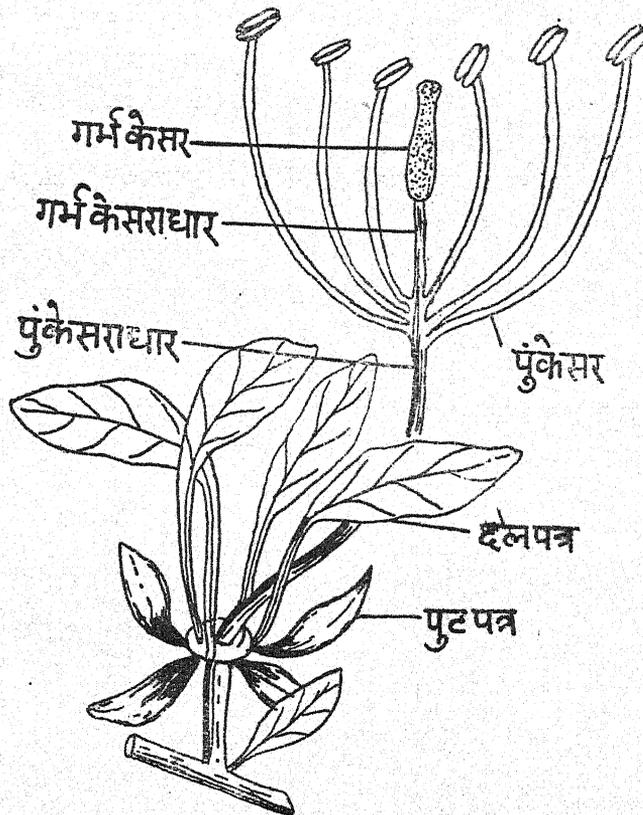
चि० ३—हुरहुर

फूल क्या है, कदाचित् यह समझाने की विशेष आवश्यकता नहीं! यह पौधे का इतना स्पष्ट अंग है कि छोटे-छोटे बच्चे तक इससे परिचित रहते हैं। फिर भी इसके वास्तविक रहस्य का प्रायः अधिक लोगों को यथेष्ट ज्ञान नहीं होता।

वैज्ञानिक दृष्टि से फूल एक टहनी है, जिसका विकास दूसरी टहनियों की भाँति कली-रूप में होता है। यह बात कुछ निराली-सी भले ही लगे, परन्तु है यह यथार्थ और प्रमाणित। अन्य शाखाओं की तरह फूल में भी पर्व,

चि०—४
गुलहड़ का फूल

पोर और पत्तियाँ (पंखुड़ी) होती हैं। पंखुड़ियों का क्रम, विकास तथा वेष्टन पत्तियों की भाँति होता है और पुष्पदंड की रचना साधारण शाखा की-सी। फिर भी साधारण पत्तियों और पंखुड़ियों के कार्य्य में बड़ा अन्तर होता है। यही अन्तर इनकी विभिन्नता और पुष्पपत्रों की विलक्षणता का मुख्य कारण है।

प्रायः फूलों में दो भाग स्पष्ट दिखाई देते हैं। नीचे की ओर डंठल या 'पुष्पनाल' (Pedicel) और सिरे पर 'स्तम्भक' (Receptacle) अर्थात् वह भाग जिसमें पंखुड़ियाँ लगी रहती हैं (चित्र २)। कुछ फूलों में स्तम्भक नहीं होता। ऐसे फूलों को 'विनाल' (Sessile) और डंठलवालों को 'सनाल' (Pedicellate) कहते हैं।

अधिकतर फूलों के गुच्छे होते हैं और ये अनेक प्रकार के 'व्यूहों' (Inflorescences) में सजे रहते हैं। कभी-कभी ये पोस्ते, गुल्लाले तथा स्वर्णक्षीर के फूलों की तरह शाख के सिरे पर अकेले ही होते हैं। ऐसे फूलों को 'एकाकी अग्रस्थ' (Solitary terminal) कहते हैं। कभी-कभी एकाकी फूल शाख के सिरे पर न होकर उसके अगल-बगल पत्तियों के पार्श्व में होते हैं। ऐसे फूलों को 'एकाकी पार्श्वक' (Solitary axillary) कहते हैं। इन दोनों ही भाँति के फूलों के डंठलों को 'पुष्पदंड' (Peduncle) कहते हैं।

घीक्वार, प्याज़, सुदर्शन जैसे पौधों में, जिनमें वायवीय तना नहीं होता, पुष्पदंड 'मूलारोही' (Radical) पत्तियों के बीच भूमि के अन्दर से निकलता है। इसमें न पत्तियाँ होती हैं और न टहनियाँ। इसे 'पुष्पध्वज' (Scape) कहते हैं।

**स्तम्भक**—स्तम्भक में तीन संक्षिप्त पोर होते हैं और पुष्पपत्र इन्हीं से निकलते हैं; परन्तु बहुधा ये इतने सटे रहते हैं कि इनका पता नहीं चलता। कभी-कभी इनमें का एक-न-एक पोर थोड़ा-बहुत बढ़ भी जाता है, जिससे इसका यथार्थ रूप स्पष्ट हो जाता है। पुटचक्र और दलचक्र के बीच के ऐसे बढ़े पोर को 'पुष्पमुकुटाधार'

चि० ५—(अ) अधस्थ, (ब, स) परिस्थ और (द) ऊर्ध्वस्थ पुष्पपत्रक्रम
[ म = स्तंभक, प = पुटचक्र, द = दलचक्र, ल = लिंगचक्र, य = योनिचक्र ]

( Anthophore ), दलचक्र और लिंगचक्र के बीच के बढ़े पोर को 'पुंकेसराधार' ( Androphore ) और लिंगचक्र और योनिचक्र के बीच के बढ़े पोर को 'गर्भ-केसराधार' ( Gynophore ) ( चित्र ३ ) कहते हैं।

कभी-कभी स्तम्भक की नोक, जैसा कि धनिया तथा गाजर में होता है, गर्भाशय के बीच से होती हुई ऊपर निकल आती है। इसे 'फलाधार' (Carpophore) कहते हैं।

साधारण रूप से स्तम्भक कुछ लम्बा-सा, वेलनाकार, बटन-जैसा होता है और फूल के अंग इस ढंग से निकलते हैं कि सबसे नीचे पुटचक्र, फिर दलचक्र, इन दोनों के ऊपर लिंगचक्र और सबके ऊपर अन्त में योनिचक्र होता है (चित्र १-२)। इस क्रम को अधस्थ ( Hypogynous ) कहते हैं ( चि० ५ अ )। ऐसे फूलों में गर्भाशय ऊर्ध्वस्थ ( Superior ) और फूल के दूसरे भाग अधस्थ ( Inferior ) होते हैं। देवकांडर ( *Ranunculus* ) ( चि० २ ), गुलहड़ ( चि० ४ ) तथा और बहुत सारे पौधों में ऐसे फूल होते हैं। गुलाब जैसे फूलों में स्तम्भक बीच में कटोरी जैसा ( नतोदर ) हो जाता है और इसके शिखर पर, जो ऐसी रचना के बीच में होता है, गर्भाशय रहता है। पुटचक्र, दलचक्र तथा लिंगचक्र ऐसे स्तम्भक की कोर से बराबरी पर इकट्ठे निकलते हैं, जिससे ये सारे अंग तथा योनिचक्र बराबर पर ही क्रमबद्ध रहते हैं। इसे 'परिस्थ' ( Perigynous ) क्रम कहते हैं ( चि० ५ ब-स )। गर्भाशय ऐसे फूलों में भी ऊर्ध्वस्थ होता है। ऐसे क्रमवाले फूलों में स्तम्भक कभी छिछला, कभी कुछ गहरा और कभी अत्यन्त गहरा होता है। कभी-कभी स्तम्भक परिस्थ क्रम की सबसे बढ़ी-चढ़ी अवस्थावाले फूलों के स्तम्भक के समान गहरी कटोरी जैसा होता है; परन्तु इसकी कोरें ऊपर को अधिक बढ़ी होती हैं, जिससे गर्भाशय प्याली के अन्दर बन्द हो जाता है। पुटचक्र, दलचक्र, लिंगचक्र तथा योनिचक्र के अन्य भाग ऐसे गर्भाशय के ऊपर से निकलते हैं। इस क्रम को 'ऊर्ध्वस्थ' ( Epigynous ) कहते हैं। इस भाँति के फूल शतपत्री वर्ग ( सूरज-मुखी आदि ), गर्जरादि वर्ग ( सौंफ, धनिया आदि ) और मंजिष्ठादि वर्ग (कदम्ब, रजनीगन्धा आदि) में होते हैं। इन फूलों में गर्भाशय अधस्थ और फूल के दूसरे अंग ऊर्ध्वस्थ होते हैं ( चि० ५ द )।

फूलों में स्तम्भक के नलिकाकार भाग को प्रायः 'पुट-नलिका' ( Calyx tube ) कहते हैं। यथार्थ में यह स्तम्भक का ही भाग है। कुछ फूलों में स्तम्भक पर मधु-ग्रन्थियुक्त मांसल अंग होता है, जिसे बिम्ब ( Disc ) कहते हैं। इससे शहद आता रहता है। बिम्ब के रूप और आकार में बड़ा अन्तर होता है। मधुकोश फूल के दूसरे अंगों के रूपान्तर से भी बन जाते हैं। देवकान्डर में
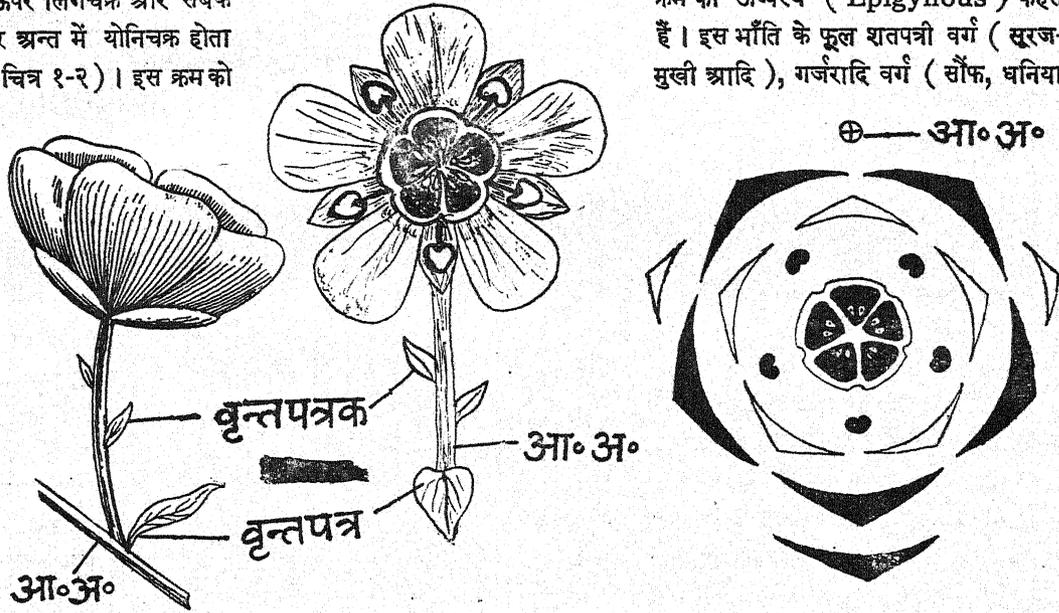


चि० ६—लाक्षणिक व्यवस्थित समाकृति पुष्प तथा पुष्पचित्र
( आ० अ० = आद्य अक्ष )
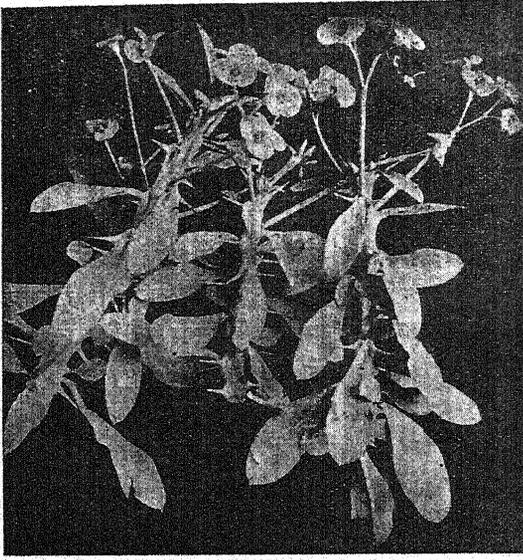
चि० ७—तीक्ष्णकंटकी

**इस पौधे के फूलों में वृन्तपत्र पंखुड़ी की तरह रँगदार और भड़कीले होते हैं।**

प्रत्येक पंखुड़ी के आधार पर भीतरी ओर मधुकोश होता है (चि० २)। अतीस (*Aconitum*) में दलों की जगह दो मधुकोश होते हैं। गुलखैरू (Hollyhock) के हर पुटपत्र की भीतरी ओर मधुकोश होता है।

**वृन्तपत्र** (Bracts)—प्रायः फूल पत्तियों अथवा वल्कपत्र-जैसी रचनाओं के पार्श्व में होते हैं (चि० ६)। इन्हें वृन्तपत्र कहते हैं। कभी-कभी ऐसे अंग पुष्पनाल पर साधारण वृन्तपत्र और फूल के बीच में भी होते हैं। इन्हें 'वृन्तपत्रक' (Bracteoles) कहते हैं (चि० ६)। वृन्तपत्र के आकार, क्रम, रंग, गठन तथा कार्य में बड़ा अन्तर होता है और इसलिए इनके कई भेद माने जाते हैं। तीक्ष्णकंटकी (चित्र ७) में ये पंखुड़ी की तरह रंगदार और भड़कीले होते हैं, जिससे इन्हें 'दलवत' (Petaloid) कहते हैं। सूरन, अरुई, करियारी, नारियल और ताड़ की जाति के दूसरे पेड़ों में एक बड़ा-सा वृन्तपत्र होता है, जो प्रायः सब फूलों को ढके होता है। ऐसे वृन्तपत्र को 'फन' (Spathe) कहते हैं। कभी-कभी फन बहुत बड़ा होता है। एक जाति के सूरन (*Amorphophallus Titanum*) में फन एक गज़ से भी अधिक ऊँचा होता है। गेंदा, गुलदावदी, सूरजमुखी वग़ैरह में फूलों के गुच्छे के नीचे सारे वृन्तपत्र इकट्ठे निकलते हैं, जिनसे बहिर्वास जैसा मंडल बन जाता है। इसे 'वृन्तपत्रच्छद' (Involucre) कहते हैं। इन पौधों में पुटचक्र या तो होता ही नहीं या अत्यन्त क्षीण होता है और वृन्तपत्रच्छद से ही इसका काम निकलता है। सौंफ, अजवायन, धनिया आदि में भी ऐसे वृन्तपत्र होते हैं। इन पौधों में पुष्पव्यूह प्रायः 'संयुक्त सचूड़' (Compound Umbel) होता है। इनके द्वितीयक वृन्तपत्रों के समूह को 'वृन्तपत्रच्छदिका' (Involucel) कहते हैं। गोधूमी वर्ग (गेहूँ, जई आदि) में फूल संयुक्त पुष्पव्यूह में होते
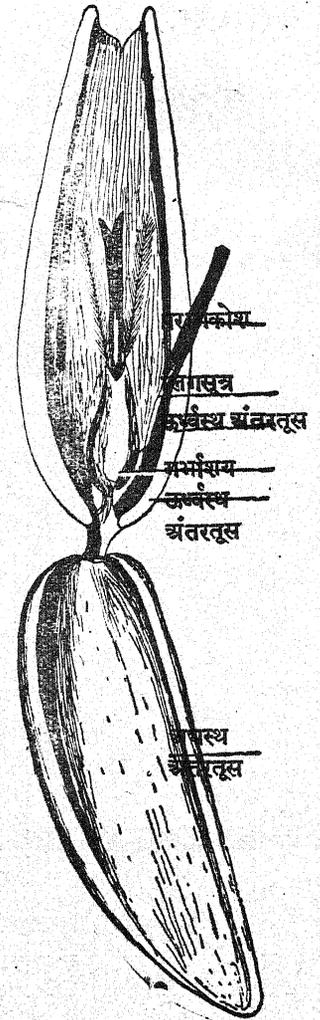
चि० ८—गोधूमी वर्ग (गेहूँ, धान, घास आदि) के पौधों का फूल

हैं। इनमें 'निदंडिका' ( Spikelet ) के नीचे की ओर के वृन्तपत्रों को 'तूस' ( Glumes ) और बाक़ी को 'अन्तरतूस' ( Palea ) कहते हैं ( चि० ८ )। तूसों के पार्श्व में फूल नहीं होते। अन्तरतूसों की नोक पर अकसर काँटा जैसा भाग होता है, जिसे 'सीकुर' (Awn) कहते हैं। प्रत्येक फूल में दो अन्तरतूस होते हैं—एक बाहरी, जिसे अधस्थ कहते हैं और दूसरा भीतरी जिसे ऊर्ध्वस्थ कहते हैं।

**पुष्पावरण** ( Floral Envelopes )—फूल का सबसे मनोहर तथा आकर्षक भाग 'दलचक्र' ( Corolla ) है। लोकमत से यही फूल का सर्वस्व है और प्रायः फूल से लोगों का इसी से अभिप्राय रहता है; परन्तु बहुतेरे फूल ऐसे हैं, जिनमें दलचक्र होता ही नहीं ( चि० ८ )। इसलिए यह धारणा ठीक नहीं जँचती। साधारण फूल में, जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, पुटचक्र, दलचक्र, लिंगचक्र और योनिचक्र ये चार भाग होते हैं ( चि० १० )। पुटचक्र और दलचक्र फूल के अनावश्यक अंग हैं; इन्हें 'बाह्यावरण' (Outer Envelopes) कहते हैं। प्रायः इनके रूप, रंग, आकार आदि बहुत भिन्न होते हैं। इस अवस्था में बाहरी मंडल को 'पुटचक्र' ( Calyx ), उसकी पत्तियों को 'पुटपत्र' ( Sepals ), और भीतरी को 'दलचक्र' (Corolla) तथा पँखुड़ियों को 'दलपत्र' अथवा 'दल' (Petals) कहते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता और बाह्यावरण के दोनों घेरों के अवयव एक जैसे होते हैं। कुछ पौधों में केवल एक ही मंडल होता है। इन दोनों रूप में बाह्यावरण को 'परिसचक्र' ( Perianth ) कहते हैं। कभी-कभी बाह्यावरणों का एक मंडल पुटचक्र या दलचक्र में से एक के लुप्त हो जाने से भी रह जाता है। ऐसी दशा में उसे परिसचक्र न कहकर 'अवशेष चक्र' का नाम देते हैं। मोरवेल ( *Clematis* ) के फूल में पुष्पावरण का केवल एक ही घेरा होता है; परन्तु यह बात दलचक्र के अभाव से समझी जाती है। इसलिए इसे यहाँ परिसचक्र न कहकर 'पुटचक्र' ही कहेंगे। बथुवा ( *Chenopodium* ), चौलाई ( *Amarantus* ) तथा भाँग ( *Cannabis* ) के फूलों में पुष्पावरण में एक ही मंडल होता है, परन्तु यह अवस्था इनकी वंश-परम्परा है। अतः ऐसे फूलों के बाह्यावरण को 'परिसचक्र' ही कहेंगे। जिन फूलों में दोनों मंडल (पुट और दलचक्र) होते हैं, उन्हें 'उभयावरणी' (Dichlamydous), जिनमें एक होता है उन्हें 'एकावरणी' ( Monochlamydous ) और जिनमें एक भी नहीं होता उन्हें 'अनावरणी' (Achlamydous ) या 'नग्न' ( Naked ) कहते हैं ( चि० ८ )।

**चि० ९—स्ट्राबेरी**

**इसके फूलों में पुटचक्र के नीचे एक दूसरी ऐसी ही रचना होती है, जिसे 'उपपुटचक्र' कहते हैं।**

**फूल के प्रधान अंग** ( Essential Organs)—लिंगचक्र और योनिचक्र फूल के प्रधान अंग हैं। लिंगचक्र से 'परागकण' ( Pollen ) और योनिचक्र से 'बीजांड' (Ovules) बनते हैं, जिनके मेल से बीज बनते हैं। गुलहड़, कमल, गुलाब वगैरह साधारण फूलों में दोनों ही अंग एक ही फूल में होते हैं, जिससे इन्हें 'उभयलिंगी' ( Hemaphrodite or Bisexual ) कहते हैं; परन्तु जब ये अलग-अलग फूलों में होते हैं तो फूल को एकलिंगी कहते हैं। एकलिंगी फूल कद्दू, खीरा, लौकी
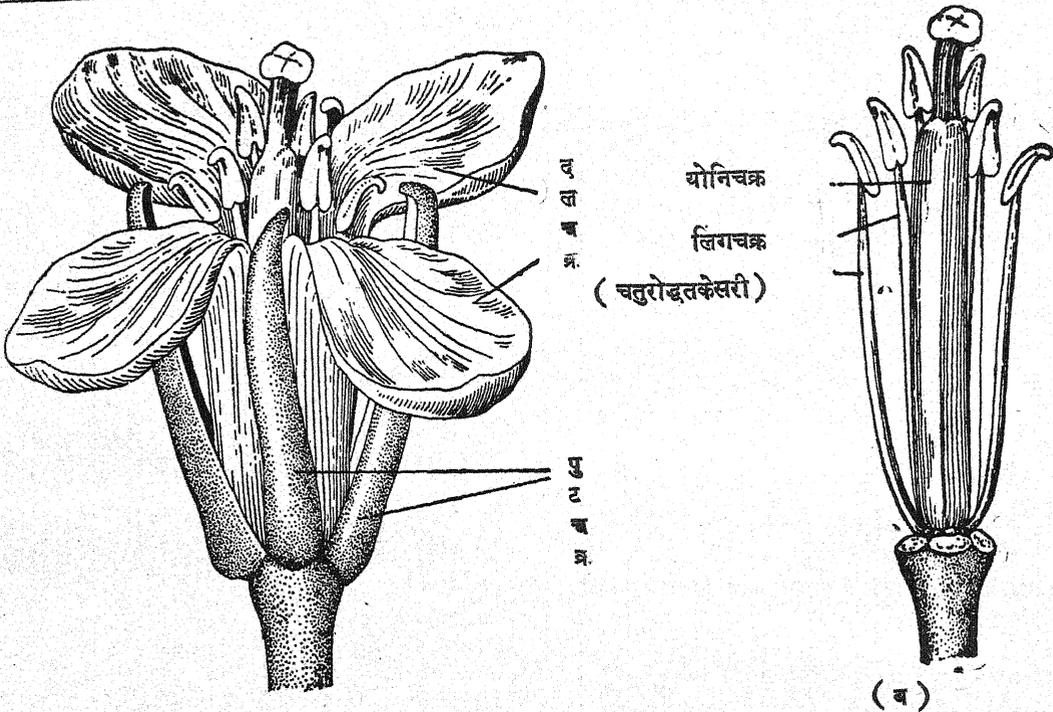
चि० १०—सरसों का फूल ( अ ) पूर्ण पुष्प; ( ब ) पुटपत्र और दल तोड़ देने के बाद ।

इत्यादि में होते हैं। एकलिंगी परागकेसरवाले फूलों को 'नर' ( Male ) या 'केसरिक' ( Staminate ) और गर्भकेसरवालों को 'नारी' (Female) या 'गर्भकेसरिक' ( Pistillate ) पुष्प कहते हैं। यदि नर और मादा फूल एक ही पौधे में हुए, जैसा कि कद्दू, तरोई, कटहल आदि में होता है, तो उसे 'उभयलिंगी' ( Monœcious ) और यदि वे अलग-अलग पौधों में हुए, जैसा कि पपीते और भाँग में होता है, तो उन्हें 'विभक्तलिंगी' ( Diœcious ) कहते हैं। जब कभी नर, नारी और उभयलिंगी फूल एक ही पौधे में होते हैं तो उसे 'बहुलिंगी' ( Polygamous ) कहते हैं। जिन फूलों में न नर फूल होते हैं और न मादा, उन्हें 'नपुंसक' कहते हैं। यदि फूल में चारों अंग संपन्न हुए तो उन्हें 'सम्पूर्ण' या 'पूर्ण' (Complete) और यदि एक न एक अंग लुप्त हो तो उन्हें 'अपूर्ण' ( Incomplete ) कहते हैं।

**पुष्पपत्रक्रम** ( Floral Phyllotaxy )—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पत्तियों की भाँति पंखुड़ियाँ भी क्रमबद्ध होती हैं। अधिकतर फूलों में ये स्तम्भक के इर्दगिर्द घेरों ( Whorls ) में होती हैं और तब पुष्पपत्रक्रम 'चाक्रिक' ( Whorled or Cyclic ) होता है ( चि० १० )। कभी-कभी, जैसा कि नागफनी और चौधारा के फूलों में होता है, पंखुड़ियों का क्रम 'घुमावदार' ( Spiral ) भी होता है। ऐसे फूलों को 'अचाक्रिक' ( Acyclic ) कहते हैं। जिन फूलों में कुछ अंग घुमावदार क्रम से और दूसरे चाक्रिक क्रम से निकलते हैं, उन्हें 'अर्धचाक्रिक' ( Hemicyclic ) कहते हैं। देवकांडर ( चि० २ ) में पुटपत्र और दलपत्र चाक्रिक क्रम में और पुंकेसर और योनिनलिका घुमावदार क्रम में होते हैं।

**पुष्पपत्रवेष्टन**—कली में पंखुड़ियों की सजावट को पुष्पपत्रवेष्टन कहते हैं। इसमें दो बातों पर विचार करना होता है—पर्णसंवलन ( Vernation ) और पुष्पमुकुलरचना ( Aestivation )। फूल की व्याख्या करते समय प्रायः पुष्पमुकुलरचना पर ही विचार करते हैं और बहुधा पुष्पपत्रवेष्टन का इसी से ही मतलब रहता है। पर्णसंवलन कली की अविकसित पंखुड़ी का रूप है। इससे अभिप्राय है कि खिलने के पहले पत्ती कली में किस भाँति मुड़ी या लिपटी रहती है। पुष्पमुकुलरचना कली के प्रत्येक घेरे की पत्तियों के लगाव-सजाव या आपसी संबंध को कहते हैं।

इससे अभिप्राय यह है कि फूल की पंखुड़ियों की कोरें प्रत्येक घेरे में अलग-अलग, आपस में स्पर्श करती हुई या एक दूसरे को ढके हुए हैं। यदि सरसों, कनेर, मटर, गुलहड़ तथा दूसरे फूलों की कलियों की जाँच की जाय, तो इन दोनों ही बातों में इन फूलों में आपस में बड़ा अन्तर मिलेगा। किसी भी पौधे की सारी कलियों में दोनों ही विशेषताएँ एक जैसी होंगी। यथार्थ में ये पौधों के लाक्षणिक तथा जातीय चिह्न हैं। बहुधा एक वर्ग के सारे पौधों में पुष्पपत्रवेष्टन एक ही ढंग का होता है। साधारण पत्तियों और पंखुड़ियों के पत्रसंवलन और पुष्पमुकुलरचना में इतनी समानता होती है कि दोनों की व्याख्या समान शब्दों द्वारा की जाती है। फूलों में दोनों ही को वेष्टन के अन्तर्गत मानते हैं।

चि०—११
पर्णसंवलन के कुछ भेद

**पर्णसंवलन के कुछ साधारण भेद**—( चि० ११ ) यदि कली के रूप में पुष्पपत्रों में न झुर्रियाँ हों न शिकन और न वह मुड़ी हो न लिपटी तो उसे 'सपाट' ( Plane ) कहेंगे। यदि पत्ती का एक ओर का आधा भाग मुड़कर दूसरी ओर के भाग से सटा हो तो उसे 'पार्श्ववलित' ( Conduplicate ) कहते हैं। यदि पत्ती में ताड़ की पत्ती की भाँति लम्बाई की ओर को कई बल पड़े हों तो उसे 'अनेकवलित' (Plicate or Plaited) कहते हैं। अगर बिना किसी विशेष ढंग के, जैसा कि गुल्लाले की पंखुड़ी में होता है, बहुत से शिकन पड़े हों, तो उसे 'अतिवलित' ( Crumpled ) कहते हैं। यदि वह केले की पत्ती की तरह कली में गुड़रीदार या कुंडलाकार रूप में हो तो उसे 'चक्रवलित' ( Convolute ) कहते हैं। यदि, जैसा कि कोकाबेरी की पत्ती की अवस्था रहती है, दोनों धारें लिपटकर ऊपर बीच में आ गई हों तो उसे 'अन्तर्वलित' ( Involute ) कहते हैं। इसके विपरीत यदि वे इसी ढंग से नीचे की ओर को मुड़ी हों तो उसे 'वहिर्वलित' ( Revolute ) कहते हैं। यदि, जैसा कि पर्णांगों की नवीन पत्ती में होता है, घड़ी की कमानी की तरह पत्ती नोक की ओर से आधार की ओर को मुड़ी हो तो उसे 'अग्रवलित' ( Circinate ) कहते हैं।

**पुष्पमुकुलरचना**—( चि० १२ ) पुष्पमुकुलरचना के चार मुख्य भेद हैं—**( १ ) विरल** ( Open ), **( २ ) क्रमाच्छादित** (Twisted), **(३) आच्छादित** (Imbricate) और **( ४ ) धारास्पर्शी** ( Valvate )। विरल अवस्था में पंखुड़ियाँ पड़ोसवाली पंखुड़ियों से बिल्कुल ही अलग-अलग होती हैं। ऐसे फूल सरसों (चि० १०) और मूली में होते हैं। धारास्पर्शी क्रम में पंखुड़ियों की कोरें पड़ोस की पंखुड़ियों को स्पर्श किए रहती हैं, ढकती नहीं हैं ( चि० १२ अ ) ( उदाहरणार्थ, गुलहड़ के पुटपत्र चि० ४ )।
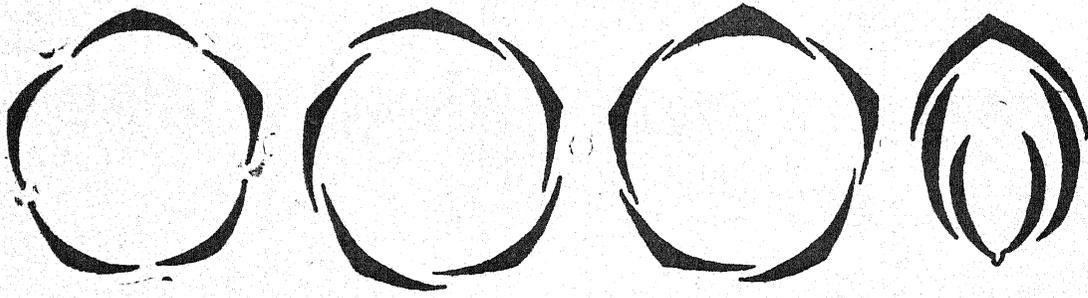
चि० १२—पुष्पमुकुलरचना के कुछ भेद
(अ) धारास्पर्शी, (ब) क्रमाच्छादित, (स) उद्गामी आच्छादित, (द) अभिगामी आच्छादित

क्रमाच्छादित अवस्था में प्रत्येक दल की एक कोर अन्दर और पड़ोस की पंखुड़ी से ढकी तथा दूसरी बाहर और पड़ोसवाली पंखुड़ी को ढके रहती है (चि० १२ ब)। ऐसा क्रम कनेर की पंखुड़यों का होता है। आच्छादित पंखुड़ियाँ एक दूसरे को ढके अवश्य रहती हैं, परन्तु क्रमाच्छादित ढंग से नहीं। आच्छादित मुकुलरचना के तीन विशेष भेद हैं, उद्गामी (Ascending) (चि० १२ स), अभिगामी (Descending) (चि० १२ द) और कनूकन्शियल (Quincuncial)। उद्गामी अवस्था अमलतास तथा गुलमोहर के दलपत्रों की होती है। इस रूप में पृष्ठस्थ (Posterior) पंखुड़ी कलिकावस्था में सबसे अन्दर रहती है और दाएँ-बाएँ के पार्श्विक दल इस पर चढ़े रहते हैं। अभिगामीक्रम इसके विपरीत होता है; अर्थात् ऐसे फूलों की पृष्ठस्थ पंखुड़ी सबसे बाहर रहती है। वह पड़ोस की दोनों पंखुड़ियों पर चढ़ी होती है। ऐसे फूल अगस्त्य, पलास, सेम आदि में होते हैं (चि० १२ द)। कनूकन्शियल क्रम वाले फूलों में भी उद्गामी और अभिगामी आच्छादित क्रमवाले फूलों की भाँति पाँच पुष्पपत्र
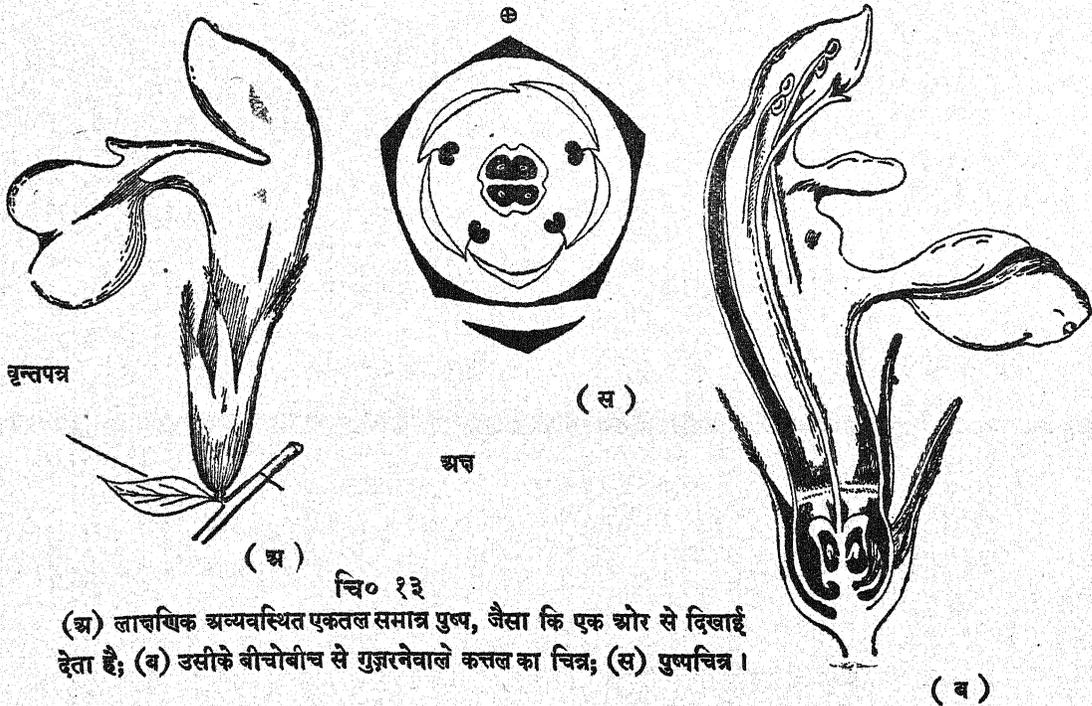
चि० १३
(अ) लाक्षणिक अव्यवस्थित एकतल समात्र पुष्प, जैसा कि एक ओर से दिखाई देता है; (ब) उसीके बीचोबीच से गुज़रनेवाले कत्तल का चित्र; (स) पुष्पचित्र।

होते हैं; परन्तु ऐसे फूलों में दो पंखुड़ी बाहर, दो भीतर और पाँचवीं का एक किनारा बाहर और दूसरा भीतर रहता है।

### फूल के विभिन्न अंगों के रूपान्तर और कर्त्तव्य

लाक्षणिक फूल में चारों भाग—पुटचक्र, दलचक्र, लिंगचक्र और योनिचक्र—होंगे। इन अंगों के अवयवों की संख्या समान और ये एक दूसरों से अलग-अलग होंगे। प्रत्येक भाग के अवयव रूप, रंग, आकार आदि में भी एक जैसे, दूसरे अंग के अवयवों से स्वतंत्र और अपने पड़ोस वाले मंडल के अवयवों से पर्य्यायक्रम में होंगे। परन्तु ऐसे फूल बहुत कम दिखलाई देते हैं। सम्भव है, आज से बहुत पहले किसी समय में अधिक फूल ऐसे ही रहे हों। परिस्थिति के अनुसार फूल के विभिन्न अंगों में अनेक परिवर्त्तन हुए। यही बात है कि अधिकतर फूलों की रचना हमारे काल्पनिक फूल से इतनी भिन्न हो गई है और बहुत तरह के फूल उत्पन्न हो गए हैं।

यदि कुछ फूलों की जाँच की जाय तो इनकी रूप-विभिन्नता का कारण कुछ विशेष बातों पर निर्भर जान पड़ता है। इनमें से मुख्य हैं—(१) फूल के अवयवों की संख्या में परिवर्त्तन, (२) फूल के अंगों की स्थिति, (३) पुष्पपत्रों का आकार तथा रूप और (४) पुष्पांगों का निजासंग तथा परासंग।

**१—फूल के अवयवों की संख्या में परिवर्त्तन**—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कल्पित मौलिक फूल में हर भाग के अवयवों की संख्या समान होती हैं, परन्तु साधारण फूलों में ऐसी अवस्था नहीं मिलती और इस संख्या में कमी और अधिकता दोनों ही बातें मिलती हैं। संख्या में अधिकता प्रायः फूल के किसी भी मंडल में एक के बजाय कई मंडल उत्पन्न हो जाने से होती है। कभी-कभी ऐसा अवयव-विभाजन से भी होता है। इस प्रकार पुष्पपत्रों की संख्या साधारण संख्या की द्विगुण, त्रिगुण आदि हो जाती है। विशेषकर ऐसी दशा लिंगचक्र की होती है।

फूल के अवयवों की संख्या में कमी किसी भी मंडल में अपूर्ण विकसन (Suppression) अथवा उसके लोप से उत्पन्न होती है। बहुधा यह कमी लिंगचक्र में ही देखी जाती है। फूल के अंगों के अवयवों की संख्या उनका वंशलक्षण है और इसकी परीक्षा से इनकी जाति तथा वर्ग का पता लग जाता है।

हम अन्यत्र देख चुके हैं कि गुप्तबीज पौधों के दो समूह हैं—एकदली और द्विदली। इन दोनों की पत्तियों के नाड़ीक्रम तथा इनकी आन्तरिक रचना के भेद से भी हम परिचित हैं। इनके फूलों में भी विभिन्नता होती है।

यदि हम फूलों के लुप्त अंगों की ओर विशेष ध्यान न दें तो हम देखेंगे कि इनके अवयवों की संख्या दो-दो, तीन-तीन, चार-चार या पाँच-पाँच होती है, जिससे इन्हें हम द्विभागशील (Dimerous), त्रिभागशील (Trimerous), चतुर्भागशील (Tetramerous) या पंचभागशील (Pentamerous) कहते हैं। द्विदली पौधों के फूल द्विभागशील, चतुर्भागशील अथवा पंचभागशील होते हैं और एकदली पौधों के फूल त्रिभागशील होते हैं। फिर भी इस नियम को अचल नहीं कह सकते। कुछ द्विदली पौधों में फूल त्रिभागशील होते हैं।

**२—फूल के अंगों की स्थिति**—साधारण क्रम से फूल के प्रत्येक अंग के अवयव अपने पड़ोसवाले अंगों के अवयवों के पर्य्यायक्रम में होते हैं; अर्थात् दलपत्र पुटपत्रों के सामने (अभिमुख) नहीं, वरन् दो पुटपत्रों के संधिस्थान अर्थात् इनके बीच की जगह के सामने होते हैं (चि० ६)। यही क्रम पंखुड़ियों और पुंकेसर का भी रहता है। यदि किसी चक्र में एक से अधिक घेरे होते हैं तो इन घेरों के
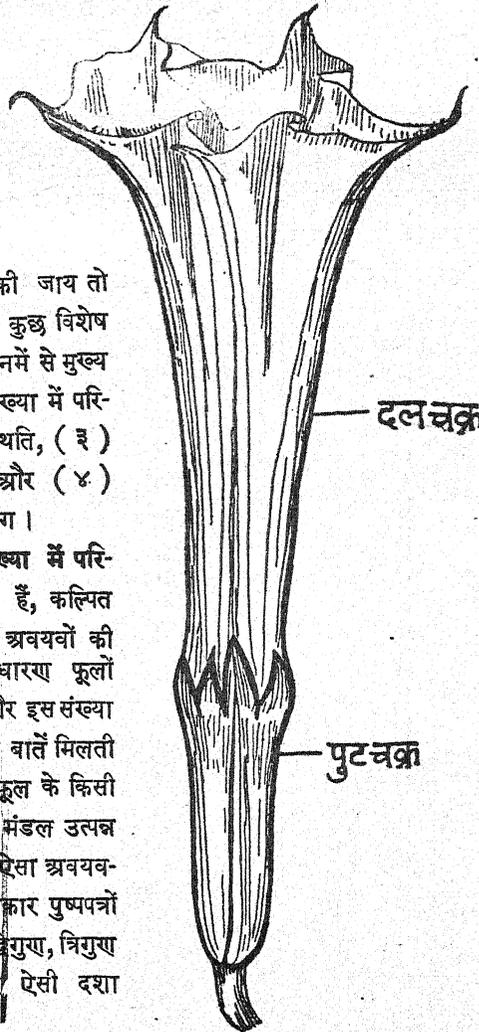
चि० १४—धतूरे का फूल

अवयव भी ऐसे ही क्रमबद्ध रहते हैं। कभी-कभी इस नियम में उलट-फेर भी हो जाता है। घुमावदार (Spiral) क्रमवाले फूलों में कभी पड़ोसवाले अंगों के अवयव पर्यायक्रम में न होकर आमने-सामने होते हैं। चाक्रिक फूलों में भी कुछ विशेष कारणों से ऐसा हो जाता है।

जोंकमारी (*Anagalis arvensis*) तथा बिसखोपरा (*Primula*) में फूल पंचभागशील होते हैं, परन्तु परागकेसर दलों के सामने होते हैं, और इन्हें 'दलपत्राभिमुख' (Antepetalous) कहते हैं। साधारण प्रकार से, फूल के अन्य अंगों के अवयवों की भाँति, इन्हें भी पर्य्यायक्रम में होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं है। अब प्रश्न यह है कि इन फूलों में ऐसी विलक्षणता कैसे उत्पन्न हो गई। अनुमान किया जाता है कि किसी समय इन फूलों में, अथवा उन वृक्षों के फूलों में, जिनसे इनकी उत्पत्ति हुई है, पुंकेसर के दो मंडल थे जो एक दूसरे से और दलों से पर्य्यायक्रम में थे; परन्तु इनका बाहरी चक्र लुप्त हो गया है, और केवल भीतरी चक्र रह गया है, जो यथार्थ में लुप्त चक्र के पर्य्यायक्रम में और इसलिए पंखुड़ियों के अभिमुख है। यही कारण है कि पुष्पपत्रक्रम परिवर्त्तित हो गया है। कुछ फूल ऐसे भी होते हैं कि जिनमें दलपत्र, पुटपत्र आदि का तो केवल एक ही मंडल होता है, परन्तु परागकेसर के दो मंडल होते हैं और बाहरी चक्र दलों के पर्य्यायक्रम में न होकर उनके अभिमुख होता है। यह विलक्षणता परागकेसर के चक्रों की स्थानाच्युति (Displacement) के कारण समझी जाती है और इसे 'द्विगुणकेसरित' (Obdiplostemonous) अवस्था कहते हैं।

योनिचक्र की अवस्था बहुधा फूल के दूसरे अंगों से अधिक भिन्न होती है। इसमें फूल के दूसरे अंगों से अधिक परिवर्त्तन हो गया है और इसके भाग बहुत-कुछ लुप्त हो गए हैं, जिससे योनिनलिकाओं के स्थान का फूल के शेष अंगों से विशेष संबंध नहीं जान पड़ता।

**३—पुष्पपत्रों का आकार तथा रूप**—आदर्श फूल में प्रत्येक भाग के अवयव आकार तथा रूपरंग आदि में समान होंगे और फूल 'व्यवस्थित' (Regular) होंगे (चि० ६)। जिन फूलों में ऐसा नहीं होता और किसी-न-किसी मंडल के पुष्पपत्र रूप तथा आकार में समान नहीं होते, उन्हें 'अव्यवस्थित' (Irregular) (चि० १३) कहते हैं। यह भेद विशेषकर दलों में ही होता है। व्यवस्थित फूलों को 'समाकृति' (Actinomorphic) कहते है। ऐसे फूल कम से कम दो धरातलों में समान भागों में बाँटे जा सकते हैं। अव्यवस्थित फूलों में कोई-कोई तो ऐसे होते हैं, जो एक धरातल में समान भागों में विभाजित हो सकते हैं, परन्तु कुछ के समान भाग हो ही नहीं सकते। पहली श्रेणी के फूलों को 'एकतलसमात्र' (Zygomorphic) और दूसरी श्रेणीवालों को 'विसंगतावयव' (Asymmetric) कहते हैं। अवयव-असमानता फूल के किसी न किसी अंग में अतिवृद्धि, बहिरुच्छेद अथवा अविकसन (Abortion) से उत्पन्न होती है।

फूल के अंगों में परिवर्त्तन से भी कभी-कभी उसकी आकृति में अन्तर पड़ जाता है। अतीस के दलपत्र मधुकोश में परिवर्त्तित हो गए हैं, जिससे इसके फूल की बनावट इस समाज (देवकांडर वर्ग) के दूसरे फूलों से बिलकुल ही निराली हो गई है।

**४—पुष्पाङ्गों में निजासंग (Cohesion) और परासंग**
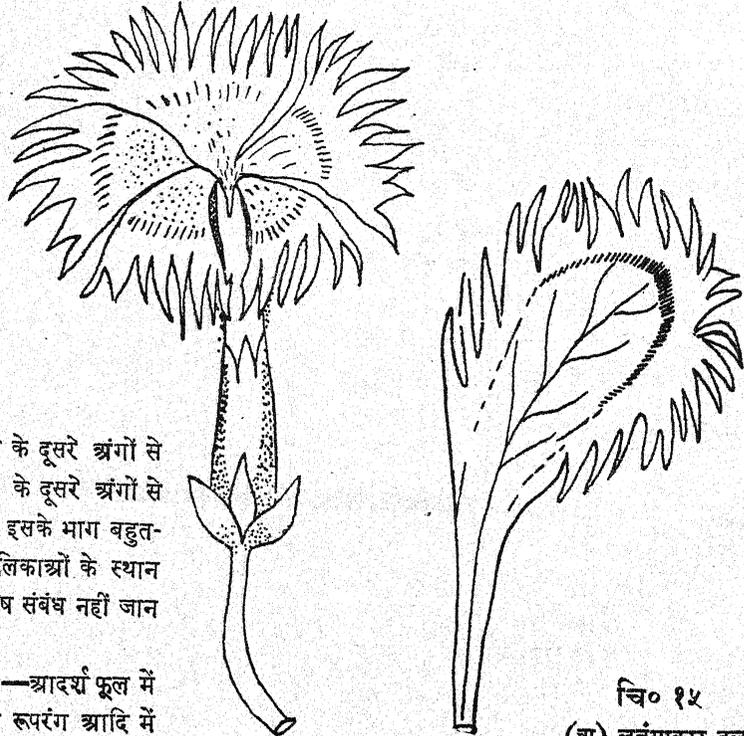
चि० १५
(अ) लवंगाकार दल-चक्र; (ब) सपदक दल

( Adhesion )—वनस्पति-शास्त्र में निजासंग फूल के किसी अंग के अवयवों के पारस्परिक मिलान ( पुटपत्रों, दलपत्रों आदि के आपसी मिलान ) को कहते हैं। धतूरे अथवा लाल मिर्च के पुष्पावरणों में पुटपत्र अथवा दल अलग-अलग नहीं होते, वरन् इन दोनों ही की संयुक्तावस्था के कारण पुटचक्र और दलचक्र के सम्पूर्ण घेरे बन जाते हैं ( चित्र १४ )। पाँच पुटपत्रों के मेल से 'संयुक्त पुटचक्र' ( Gamosepalous Calyx ) और पाँच दलों के मेल से 'संयुक्त दलचक्र' ( Gamopetalous Corolla ) बनता है। जब अवयव अलग-अलग हों तो उन्हें 'विभक्त' ( Poly- ) और जब वे मिले होते हैं तो उन्हें 'संयुक्त ( Gamo- ) कहते हैं। इस प्रकार पुटचक्र 'विभक्तपत्री' ( Polysepalous ) या 'संयुक्तपत्री' मिली या अलग-अलग होती हैं। जब ये अलग-अलग होती हैं, जैसा कि देवकांडर के फूल में होता है (चि० २) तो योनिचक्र को 'विभक्त योनिनलिका युक्त' ( Apocarpous ) कहते हैं और जब ये, जैसा कि धतूरे या गुलहड़ के फूल में होता है, आपस में मिली रहती है तो इन्हे 'संयुक्तयोनि' ( Syncarpous ) कहते हैं। बहुधा फूलों में गर्भाशय ही मिले होते हैं और शेष दो भाग स्वतंत्र रहते हैं।

परासंग एक मंडल के अंगों के दूसरे मंडल के अंगों के साथ के मेल को कहते हैं। पुटचक्र और दलचक्र का मिलान बहुत कम होता है; परन्तु दलों और लिंगसूत्रों का मिलान अधिक फूलों में मिलता है। बहुधा संयुक्तदली फूलों में यह अवस्था मिलती है। जिस समय धतूरे के तुरही

(अ) (ब)

चि०—१६
( अ ) मटर का फूल; ( ब ) मटर के फूल का पुष्पचित्र
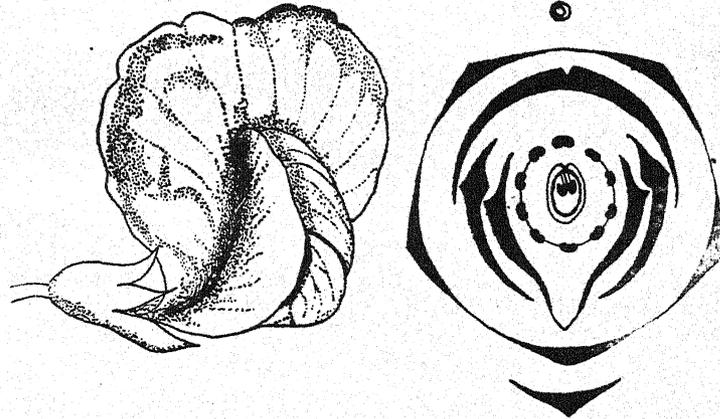
(Gamosepalous) और दलचक्र 'विभक्तदली' (Polypetalous ) या 'संयुक्तदली' ( Gamopetalous ) होता है। गुलहड़ में सारे लिंगसूत्र मिले होते हैं, जिससे एक नली-सी बन जाती है और परागकोश इससे निकलते हैं। ऐसे परागकेसर ( चि० ४ ) को 'एककूर्ची' ( Monadelphous ) कहते हैं। सूरजमुखी, कटेरी, बैंगन आदि में फूल के सब परागकोश आपस में मिले होते हैं, जिससे इन्हें 'संयुक्तपिटक' ( Syngenesious ) कहते हैं। जब किसी फूल में परागकेसर के सूत्रों के मेल से दो, तीन अथवा अधिक गुच्छे बन जाते हैं तो इनके अनुसार इन्हें द्विकूर्ची ( Diadelphous ), त्रिकूर्ची ( Triadelphous ) अथवा बहुकूर्ची (Polyadelphous) आदि कहते हैं। योनिनलिकाएँ भी आपस में एक दूसरे से जैसे दलचक्र को चीरकर देखा जाता है तो इसके दलों के अन्दर की ओर लिंगसूत्र चिपके मिलते हैं। लिंगसूत्रों का कुछ भाग और परागकोश स्वतंत्र होते हैं। ऐसी दशा में पुंकेसर को 'दलसंलग्न' ( Epipetalous ) कहते हैं। योनिचक्र और लिंगचक्र का संलग्नत्व बहुत कम मिलता है। इस अवस्था को 'उभयकेसरसंलग्न' ( Gynandrous) कहते हैं।

**फूल के अंगों की कुछ विशेष बातें**—फूल के विभिन्न अंगों के कर्त्तव्य तथा आकृति आदि के यथार्थ भेद का पता तभी चल सकता है जब हम इस ओर ध्यान दें कि इन अंगों की रचना का एक-दूसरे से क्या सम्बन्ध है। इसका निर्णय केवल फूलों की जाँच से ही किया जा सकता है। यह पुरानी धारणा कि फूलों के विचित्र रूप-रंग मनुष्य
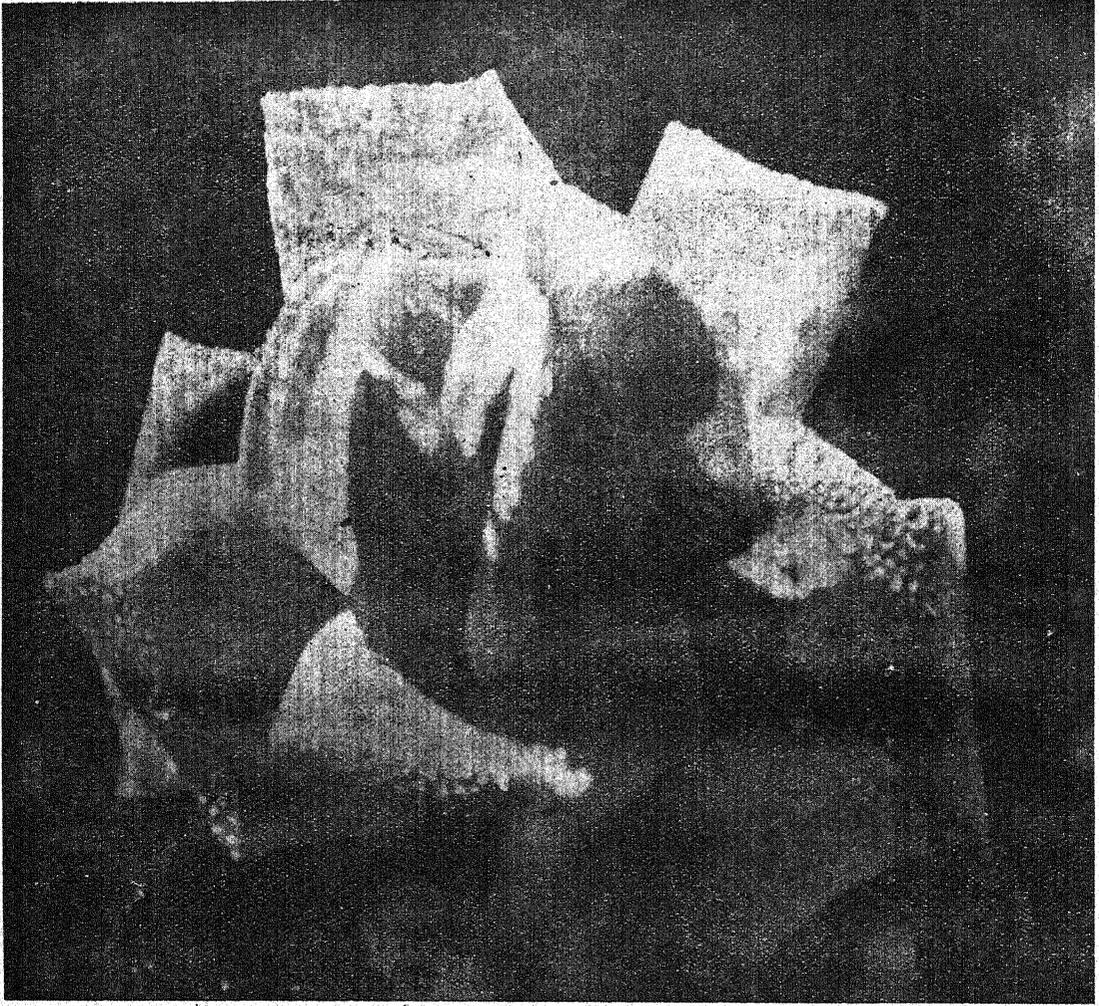
**चित्र १७—गुलाब**

**इसके अनेक दलपत्र पुंकेसर के परिवर्त्तन से पैदा हो गए हैं। दलचक्र को यहाँ 'गुलाबाकृति' कहेंगे।**

के मनोरंजन के लिए हैं, आज से बहुत दिन पूर्व ही निर्मूल सिद्ध हो चुकी है और अब प्रायः सभी जानते हैं कि ये सारी बातें फूलों में सेचन करनेवाले पतिंगों को पैठने देने के लिए अथवा वर्जित पतिंगों को उनसे दूर रखने के हेतु ही हैं। बहुधा इस रहस्य का फूल के पुटचक्र और दलचक्र से ही विशेष सम्बन्ध रहता है। इन बाह्यावरणों से फूलों को कई लाभ होते हैं। कली-रूप में ये फूल के विशेषांग अर्थात् पुंकेसर तथा गर्भकेसर के कोमल अंगों की रक्षा करते हैं। विकसित फूल में ये प्रायः पराग को हवा और ऐरे-ग़ैरे पतिंगों से सुरक्षित रखते हैं। यदि ऐसा न होता तो सम्भव है, इस अमूल्य द्रव्य का अधिक भाग वायु में उड़कर इधर-उधर हो जाता या उसे दुष्ट कीड़े ही चट कर जाते। कुछ फूलों में ये स्वपिंडसंयोग ( Autogamy अर्थात् अपने ही पराग से बीजांड के गर्भाधान ) में सहायक होते हैं। बहुतेरे फूलों में दलों के रूप-गंध कीड़ों को आकर्षित करते हैं। ये कीड़े एक फूल का पराग दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुँचाते हैं, जिससे गर्भाधान होता है और बीज बनते हैं। मधु की रक्षा भी इन्हीं अंगों से होती है। कर्त्तव्य के अनुसार फूलों के इन अंगों में बड़ा अन्तर देखा जाता है, जिससे इनकी अलग-अलग जाँच की आवश्यकता है। सेचन-जैसी पौधों की विशेष क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण इनकी आकृति आदि पर भी विचार करना होगा।
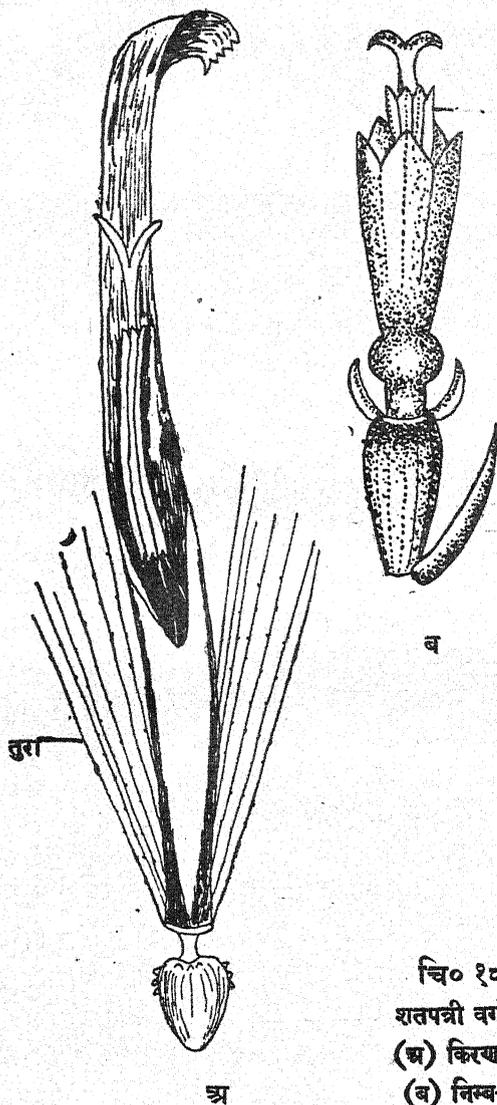
चि० १८
शतपत्री वर्ग के
(अ) किरणपुष्प;
(ब) निम्ब-पुष्प

**पुटचक्र**—गाजर, धनिया, सौंफ आदि में जहाँ, एक ही स्थान से कई फूल निकलते हैं, पुटचक्र के केवल चिह्नमात्र मिलते हैं। फूलों के गुच्छों के नीचे पुटपत्र-जैसा वृन्तपत्र-समूह होता है। विषनाग (*Delphinium*) में इसके विपरीत पुटपत्र ही फूल में सबसे आकर्षक होते हैं। इस फूल में पृष्ठस्थ (Posterior) पुटपत्र 'लांगुलिक' (Spurred) होता है। संयुक्त दलचक्र का लांगुल, जिसमें मधुकोश होता है, इसके अन्दर दस्ताने के भीतर उँगली की भाँति सुरक्षित रहता है। नागकेसर (*Tropeolum majos*) में भी पुटचक्र लांगुलिक होता है; परन्तु दल लांगुलिक नहीं होता। इस फूल के पुटपत्रों में ही मधुकोश होता है। अतीस में पुटचक्र 'कंटोपाकार' (Galeate) होता है। कन्टोप दो पृष्ठस्थ दलों के मिल जाने से बनता है। इससे परागकेसर और मधुकोश की रक्षा होती है। गुलाब (चि० १७) का 'चम्बूसम' (Urn-shaped) चमकीला हरा भाग, जिसे लोग प्रायः पुटचक्र समझते हैं और जिससे फल का सुर्ख बाहरी भाग बनता है, 'स्तंभक' है। इस फूल में पुटपत्र पाँच और स्वतंत्र होते हैं और ये फल पकने पर भी लगे रहते हैं। इन्हें 'चिरस्थायी' (Persistant) कहते हैं। सेब, नाशपाती तथा स्ट्राबेरी (चि० ६) में भी चिरस्थाई पुटपत्र होते हैं। बहुत-से फूलों में पुटपत्र 'पूर्वपाती' (Deciduous) होते हैं और वे फल तैयार होने के पूर्व ही गिर जाते हैं। पोस्ते तथा करुए (इसे स्वर्णक्षीर भी कहते हैं) में पुटपत्र फूल खिलते ही गिर जाते हैं और कली में कोमल अंगों की रक्षा के अतिरिक्त इनसे फूल को और कोई लाभ नहीं होता। इन्हें 'लोल' (Caducous) कहते हैं। किसी-किसी फूल के चिरस्थायी पुटपत्र फूल खिलने के बाद भी बढ़ते रहते हैं और फल बनने पर भी उस पर लगे रहते हैं। ऐसे पुटचक्र को 'सहवर्धिष्णु' (Accrescent) कहते हैं। रसभरी के फूल के ऊपर का खोल ऐसे पुटचक्र से ही बनता है। यह फल के वायु द्वारा प्रसारण में बड़ी मदद करता है। बैंगन, असगंध तथा धतूरे में भी इसी भाँति का पुटचक्र होता है।

स्ट्राबेरी (चि० ६) तथा गुड़हल (चि० ४) के फूलों में पुटचक्र के नीचे एक दूसरी ऐसी ही रचना होती है, जिसे 'उपपुटचक्र' (Epicalyx) कहते हैं। बहुत सम्भव है, यह फूल पर रेंगकर चढ़नेवाले कीड़ों के मार्ग
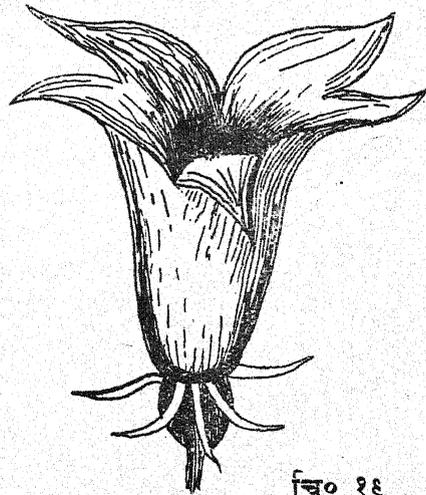
चि० १९

चि० २०
द्विओष्ठी जृम्भमुखी दलचक्र
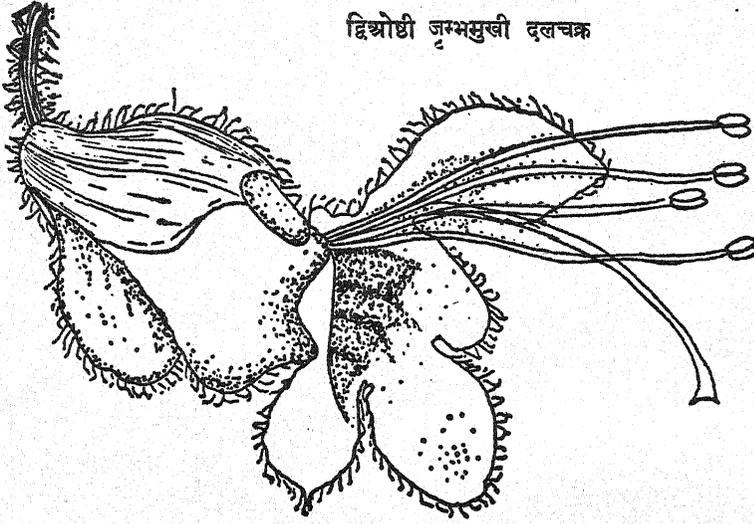
में बाधा पहुँचाता हो, जिससे उसके कोमल अंगों की रक्षा होती है। 'कुप्पाकार' ( Globose ) और 'कलशाकार' ( Saccate ) पुटचक्र फूल के कोमल अंगों की हानिकारक पतिंगों से रक्षा करने में सबसे अधिक उपयोगी प्रतीत होते हैं। ऐसे फूलों में उपद्रवी कीड़े पुटचक्र में छेद करने पर भी मधु तक नहीं पहुँच पाते, केवल लम्बी सूँड़वाले पतिंगों की ही मधु तक पहुँच होती है। इन्हीं पतिंगों द्वारा इन फूलों में सेचन होता है।

**दलचक्र**—दलचक्र के पुटचक्र से भी अधिक रूप-रूपान्तर होते हैं। परन्तु यदि विचार किया जाय तो ऐसा होना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। पौधों के सेचन में इस अंग का सबसे अधिक भाग रहता है। यही बात इस अंग की बनावट में इतने परिवर्त्तन की जड़ जान पड़ती है। यदि आप कमल, गुलाब, कनेर, पिटूनिया, बेला, नरगिस, केवड़ा तथा दूसरे परिचित फूलों की बनावट पर विचार करें तो आपको इनमें बड़ा अन्तर मिलेगा! यथार्थ में दलचक्र की इतनी क़िस्में हैं कि इन सबकी यहाँ चर्चा करना असम्भव है। इसलिए हम केवल कुछ ख़ास-ख़ास उदाहरण देकर इस अंग की आकृति का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। सरसों ( चि० १० ) तथा मूली के फूल में चार पुटपत्र दो मंडलों में होते हैं। आमने सामनेवाले पुटपत्र बगली पुटपत्रों के किनारों को ऐसे ढके रहते हैं कि पुटचक्र की एक नकली नली-सी बन जाती है। दलपत्र 'सपदक' ( Clawed ) होते हैं और इस नली के ऊपर 'स्वस्तिकाकार' ( Cruciform ) रूप में फैले रहते हैं ( चि०१० )। दलचक्र को 'स्वस्तिकाकार' कहते हैं। मधुप्रेमी पतिंगों के लिए ऐसे दलों पर बैठकर मधु खोजने का अच्छा सुभीता रहता है। डायन्थस (*Dianthus*),
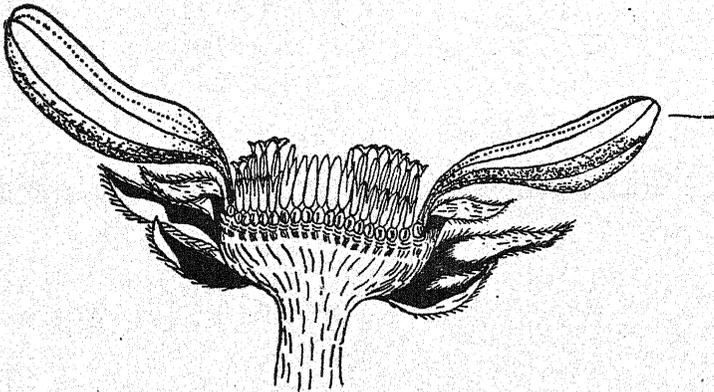
चि० २१—सूर्यमुखी का फूल
यह एक नहीं, अनेक पुष्पों का समूह है। बाहर किरणपुष्प और अंदर निम्बपुष्प हैं।

स्वीट विलियम ( Sweet William ), कारनेशंस ( Cornations ) आदि पौधों के फूलों में दलचक्र कुछ और ही ढंग के होते हैं। इनमें पुटचक्र संयुक्त और नलिकाकार होता है, परन्तु दलचक्र विभक्तदली तथा दल सपदक होते हैं। मधु पुटचक्र के निचले भाग में रहता है और इस तक केवल लम्बी सूँड़वाले पतिंगे ही, जिनके द्वारा इस पौधे में सेचन होता है, पहुँच पाते हैं। देखने में ऐसे फूल कुछ-कुछ लौंग जैसे लगते हैं, जिससे इन्हें 'लवंगाकार' (Caryophyllaceous) (चि० १५) कहते हैं। ऐसे कुछ फूलों में 'मधुपथप्रदर्शक रेखाएँ' (Honey guides) भी होती हैं। 'गुलाबाकृति' (Rosaceous) दलचक्र में पाँच स्वतंत्र और खुले दल होते हैं, परन्तु ये सपदक नहीं होते। इन फूलों में प्रायः स्तम्भक भी फैला रहता है। जंगली गुलाब तथा देवकान्डर में ऐसा दलचक्र होता है। हमारे बगीचे के सुपरिचित साधारण गुलाब में अनेक दलपत्र पुंकेसर के परिवर्त्तन से पैदा हो गए हैं। दलचक्र को यहाँ भी गुलाबाकृति ही कहेंगे। स्वतंत्र दली फूलों में 'चित्रांगाकार' ( Papillionaceous ) दलचक्र सबसे विचित्र है (चि० १६)। शिम्बी वर्ग के अन्तर्गत 'अपराजिता उपवर्ग' ( Papillionatae ) में ऐसा दलचक्र होता है।

इस फूल में पाँच दल होते हैं और पृष्ठस्थ दल, जिसे 'पताका' (Standard) कहते हैं, सबसे बड़ा और कली में सबसे बाहर होता है। दो पार्श्विक और दो पूर्ववर्ती दल इनसे छोटे होते हैं और ऊपर की ओर वाले दल निचले वालों को ढके रहते हैं (चि० १६)। निचले दोनों दलों के मेल से एक परनाली-सी रचना बन जाती है, जिसे नौका (Keel) कहते हैं। पताका पार्श्वी दलों को और ये नौका को ढके रहते हैं।

संयुक्त दलचक्र के और भी अधिक भेद हैं। इनकी बनावट का सम्बन्ध भी सेचन और पतिंगों से ही रहता है।
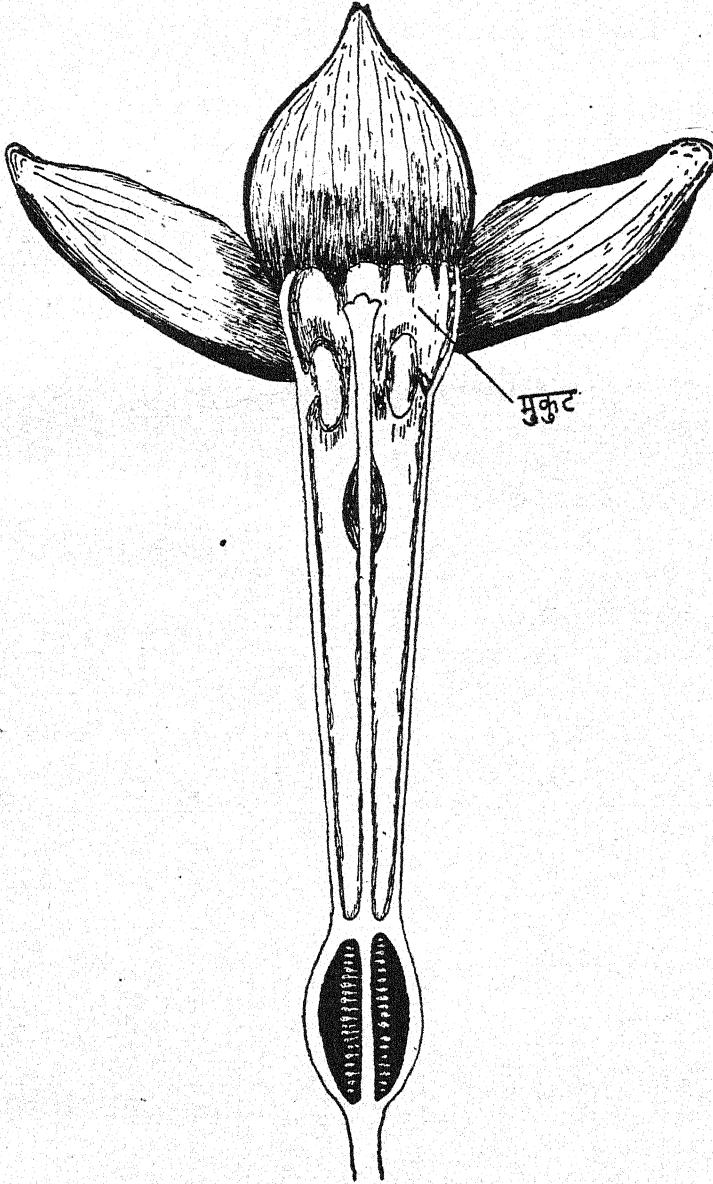
चि० २२
नरगिस की जाति के पौधे का फूल
यह बीच से दो भाग करके दिखाया गया है। इसमें पुष्प त्रिभागशील होते हैं।

यदि दलचक्र नली-जैसा ऊपर से नीचे तक एक ही चौड़ाई का हो, जैसा कि सूर्य्यमुखी ( चि० २१ ) तथा गेंदा के बिम्बपुष्पों में होता है, तो उसे 'नलिकाकार' (Tubular) कहते हैं। यदि इसकी बनावट घंटी-जैसी हो तो उसे 'घंटिकाकार' ( Campanulate ) ( चि० १६ ) कहते हैं। यदि निचला भाग कम चौड़ा और ऊपर को कुछ-कुछ फैलता गया हो तो उसे 'फनेलाकार' (Infundibuliform) कहते हैं। कुछ फूलों के दलचक्र दीपक या प्याली-जैसे होते हैं। इन्हें 'दीपकाकार' ( Salver-shaped ) कहते हैं। फनेलाकार फूल तम्बाकू तथा पिटूनिया में होते हैं।

अव्यवस्थित संयुक्तदली फूलों में द्विओष्ठी (Bilabiate) फूल विशेष उल्लेखनीय हैं ( चि० २० )। इन फूलों के दो भेद हैं। एक प्रकार के ऐसे फूलों में गला खुला रहता है जैसा कि तुलसी, देवना, दीर्घोष्ठ ( *Salvia* ) आदि में होता है और दूसरी भाँति के फूलों में इसके विपरीत गला बंद रहता है, जैसा कि सहदेई तथा एण्टीराइनम् ( *Antirrhinum* ) में होता है। पहली क़िस्म के फूलों को 'जृम्भमुखी' ( Ringent ) और दूसरी भाँति वालों को 'बद्धमुखी' ( Personate ) कहते हैं। लम्बोष्ठ दलचक्र में पाँच दलों का अलग-अलग पता लगना भी कठिन होता है; परन्तु यदि हम स्मरण रक्खें कि पुटपत्र साधारण प्रकार से दलपत्रों के पर्य्यायक्रम में होते हैं तो इसका पता लग सकता है। इस नियम के आधार पर ज्ञात होता है कि निचले होंठ के बीच का भाग, जो प्रायः कुछ फटा-सा होता है, एकदल है और उसके दायें-बायें के दो 'उपांग' ( Appendages ) बगलवाले दो दलों के अवशेष भाग हैं। बाक़ी के दो दलों से फन या टोप-जैसा ऊपरी होंठ बनता है। मधुमक्खियों द्वारा सेचन का ऐसे फूल से विशेष सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध में बद्धमुखी फूलों की रचना और भी अधिक विचार करने योग्य है। इसके होंठ तभी खुलते हैं, जब कोई ताक़तवर या वज़नी कीड़ा निचले होंठ पर आ बैठता है।

साधारण संयुक्त दलचक्र में 'कलशाकार' दलचक्र भी होता है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, ऐसा दलचक्र गोलाकार होता है। कलशाकार ही दलचक्र से मिलता-जुलता 'चम्बूकार' ( Urceolate ) दलचक्र होता है। ऐसे दलचक्र में लम्बी सूँडवाले पतिंगे ही सेचन कर सकते हैं। अंगूर के फूल का दलचक्र और भी विचित्र होता है। इसके दलपत्र हरे तथा सादे होते हैं और इसलिए पतिंगों के आकर्षण के लिए यह निरानिर बेकार होते हैं और फूल खिलने के थोड़े ही समय में मुरझाकर गिर जाते हैं। परन्तु गिरने के पूर्व इसके पाँचों दल ऊपर की ओर को जुड़े रहते हैं, जिससे एक सुन्दर गुंबज-सा गर्भाशय और लिंगचक्र के ऊपर बन जाता है। यह इन कोमल अंगों की रक्षा करता है।

पुष्पावरणों पर विचार करते समय शतपुष्पी वर्ग के फूलों का उल्लेख किए बिना यह विषय अधूरा ही रह जायगा। इस वर्ग के पौधों में बहुत सारे 'लघुपुष्प' ( Florets ) एक ही स्तम्भक से निकलते हैं। गेंदा, सूरजमुखी ( चित्र २१ ) गुलदावदी, जिन्हें साधारण मत से फूल मानते हैं, वास्तव में फूलों के गुच्छे हैं। इसकी परीक्षा इन पौधों में बड़ी सुगमता से हो सकती है। यदि ऐसे पुष्पगुच्छ को बीच से दो भाग में चीरकर देखा जाय तो बीच की ओर 'बिम्बपुष्प' ( Disc florets ) मिलेंगे और बाहरी ओर 'किरणपुष्प' ( Ray florets )। बिम्बपुष्प ( चित्र १८ ) नलिकाकार और पूर्ण होते हैं। किरणपुष्प ( चित्र १८ ) बहुधा इनसे भिन्न होते हैं। दोनों ही भाँति के फूलों में दलचक्र के आधार के नीचे गर्भाशय होता है और योनिनली का अधिक भाग दलों में छिपा रहता है। केवल इसकी नोक, जिसके सिरे पर विभक्त योनिछत्र होता है, बाहर निकली होती है।

पुटपत्रों के रूपान्तर से एक रोमवत् रचना बन जाती है, जिसे 'तुरा' ( Pappus ) कहते हैं। इस वर्ग के कितने ही पौधों में तुरा फल पकने पर भी उनके शिखर पर लगा रहता है और हवा में फूलों के छितराने में सहायता करता है।

कुछ फूलों में दलचक्र पर पंखुड़ियों के भीतर की ओर एक विशेष रचना होती है, जिसे 'मुकुट' ( Corona ) कहते हैं (चि० २२)। यह दलों से ही उत्पन्न होता है और किसी-किसी फूल में बड़ा सुन्दर होता है, जिससे ऐसे फूलों का आकर्षण और भी बढ़ जाता है। कभी-कभी यह विशेष रूप से स्पष्ट नहीं होता। नरगिस के फूल का मुकुट आकर्षक और कनेर का साधारण होता है। झूमकलता (*Passiflora* ) के मुकुट के विषय में कहते हैं कि इसमें छोटे-छोटे पतिंगे फँस जाते हैं। शकरखोरे ( Humming Birds ) इन्हीं की खोज में फूलों में घुसते रहते हैं और इस प्रकार एक फूल का पराग दूसरे तक पहुँचाकर इनमें सेचन करते हैं। कुछ फूलों में ऐसा मुकुट पतिंगों को उलझा रखता है, जिससे ये फूल में उपद्रव नहीं कर पाते।

# मनुष्य की कहानी
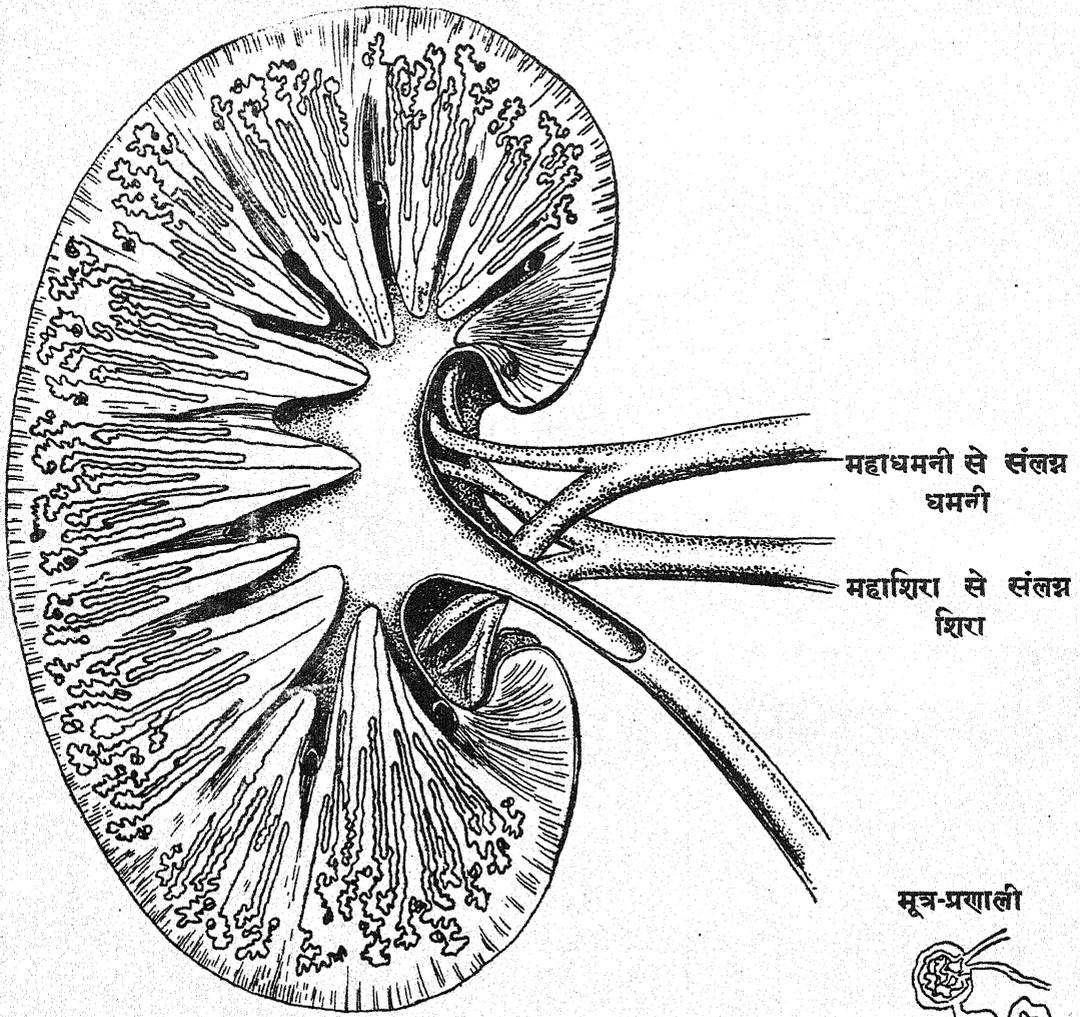
मूत्र-प्रणाली
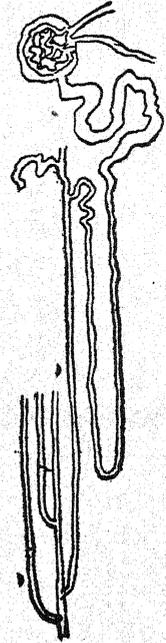
**हमारे शरीर-यंत्र के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—वृक्क या गुरदे की सूक्ष्म रचना**

वृक्क या गुरदा दूषित मल पदार्थ से लदे हुए रक्त में से हानिकारक अपद्रव्यों को छानकर मूत्र के रूप में बाहर निकालने के लिए प्रकृति द्वारा नियोजित संस्थान का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। जैसा कि पृ० २६६७ के चित्र से आप जान सकते हैं, हमारे शरीर में ऐसे दो गुरदे रहते हैं, जो दो मूत्र-प्रणालियों द्वारा मूत्राशय या मसाने से जुड़े रहते हैं। प्रस्तुत चित्र में एक गुरदे को बीच में से तराश कर उसकी आन्तरिक रचना परिवर्द्धित करके दिखाई गई है। आप देख सकते हैं कि वृक्क में अनेक पतली-पतली ऐसी सूक्ष्म नलियों का जंजाल-सा रहता है, जिनमें से प्रत्येक के शीर्ष भाग रक्त-केशिकाओं के झुंडों से संलग्न रहते हैं। यही नलिकाएँ रक्त-शोधन और मूत्र-रचना के लिए किस प्रकार एक जादू के छन्ने का-सा काम करती हैं, यह लेख में पढ़िए। दाहिनी ओर ऐसी ही एक सूक्ष्म नली का परिवर्द्धित चित्र दिया गया है। वृक्क के मध्य भाग में जो खोखला-सा अंश है, उसमें कई मीनारों जैसी रचनाओं के शिखर निकले हुए आप देख सकते हैं। इन्हीं शिखरों में बने छिद्रों में से स्रवित होकर मूत्र मूत्र-प्रणाली में जाता है।

# मलोत्सर्जन-संस्थान

## मूत्र-वाहक संस्थान—वृक्क (गुरदे), मूत्राशय और मूत्रमार्ग

प्रस्तुत लेख में हम मलोत्सर्जन-संस्थान के विषय में आपको बतायेंगे। जिस भाँति पोषण-संस्थान, श्वासोच्छ्वास-संस्थान, रक्त-संचारक-संस्थान आदि शरीर के लिए परम आवश्यक हैं, उसी भाँति यह संस्थान भी है।

यह प्रकृति का नियम है कि जहाँ कोई वस्तु निर्मित होती है वहाँ कुछ न कुछ नष्ट भी होता है। शरीर के कोष भी इसी नियमानुसार बनते-बिगड़ते रहते हैं। इस नष्ट होने की क्रिया से जो दूषित पदार्थ बनते हैं, उन्हें रक्त धो-बहाकर एकत्रित कर लेता है और फिर वह कई रीतियों से उसे शरीर के बाहर निकालता है। यह तो आप पढ़ ही चुके हैं कि फेफड़ों के सहारे हम किस तरह कारबोनिक ऐसिड गैस बाहर निकालते हैं और यह भी आप जान चुके हैं कि खाल के छिद्रों में से कुछ पदार्थ पसीने के साथ बाहर आते हैं। आप यह भी जानते हैं कि हमारे ग्रहण किये गये भोजन के सभी अंश आँतों में सोखकर शरीर के कार्य में नहीं आते, थोड़े बहुत भाग नित्य ही अपच रह जाते हैं, जिसे शरीर मल के रूप में प्रतिदिन बाहर निकालता है। यदि यह दूषित पदार्थ शरीर से बाहर नहीं निकल पाए तो शरीर के दूषित होने की सम्भावना होती है। शरीर के इन दूषित व हानि-कारक पदार्थों को दूर करने की एक और विधि भी है। इस विधि से जो मल बाहर निकाला जाता है, उसका रूप न तो वायु जैसा गैसीय है और न मल-जैसा ठोस ही। वह पसीने की भाँति तरल है। आप समझ गए होंगे कि वह क्या है। वह है मूत्र। जो अंग इस मूत्र को बनाने और त्यागने के काम आते हैं, उनकी गणना मूत्र-वाहक संस्थान में की जाती है। मलोत्सर्जन-संस्थान में इनका मुख्य स्थान समझा जाता है।

इस संस्थान के चार प्रधान भाग हैं—(१) वृक्क, जो रक्त से मूत्र को पृथक् करते हैं, (२) मूत्र-प्रणालियाँ जो उसे मूत्राशय तक पहुँचाती हैं, (३) मूत्राशय, जहाँ वह एकत्रित होता है, और (४) मूत्रमार्ग, जिसके द्वारा वह शरीर से बाहर आता है।

### वृक्क या गुरदे

वृक्क दो हैं। ये कमर में मेरुदंड के दोनों ओर सटे हुए चर्बी की एक तह में घुसे रहते हैं। इनका ऊपरी भाग नीचे की पसलियों से और निचला भाग कमर की बड़ी पेशियों से सुरक्षित रहता है। ये आकार में सेम के बीज के समान, किन्तु डीलडौल में उससे कहीं बड़े होते हैं। इनकी लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २॥ इंच और मुटाई १ इंच के लगभग होती है। एक वृक्क का भार लगभग २ छटाँक होता है। बायें ओर का वृक्क दाहिने से कुछ लम्बा तथा ऊपर की तरफ़ होता है। वृक्क गहरे भूरे रंग के होते हैं। प्रत्येक गुरदे के ऊपरी सिरे पर एक छोटी-सी गिल्टी रहती है, जिसे उपवृक्क कहते हैं। इसके विषय में आपको आगे बताया जायगा।

सेम के बीज के तुल्य इन गुरदों के वे भाग जो मेरुदंड की तरफ़ होते हैं कुछ अन्दर की ओर दबे रहते हैं। इसी स्थान पर वृक्क की रक्त-नलियाँ इनके भीतर प्रवेश करती हुई दृष्टि-गोचर होती है। इनके अतिरिक्त वृक्क के इसी स्थान से एक नली, जिसे मूत्र-प्रणाली कहते हैं, निकलती भी है।

गुरदों को यदि बीच से लम्बा काटकर निरीक्षण किया जाय तो उनके अन्दर दबे हुए स्थान की ओर एक खाड़ी ऐसा शून्य स्थान दिखाई देगा। इस शून्य स्थान में चारों ओर का भाग, जो ठोस-सा प्रतीत होता है, बहुत-सी पतली-पतली नलिकाओं से निर्मित होता है। ये नलिकाएँ बहुत लम्बी होती हैं और बहुत मोड़-तोड़ के पश्चात् और नलि-काओं से मिलकर बड़ी नलियों द्वारा कुछ मीनारों की चोटियों पर छोटे-छोटे छिद्र द्वारा वृक्क के शून्य स्थान में खुलती हैं। इन नलिकाओं का दूसरा सिरा गेंद के समान फूला होता है, जिनमें रक्त-केशिकाओं का समूह मिला रहता है।

इसके अतिरिक्त नलिकाओं के चारों तरफ़ रक्त-केशिकाओं, धमनियों और शिराओं का भी एक जाल-सा बना रहता है।

### वृक्क का कार्य

वृक्क की बनावट ऊपर बताई जा चुकी है। अब यह देखना है कि ये किस प्रकार मूत्र बनाते हैं तथा शरीर के विकार को कैसे रक्त से अलग करके बाहर निकाल देते हैं।

जो विकार शरीर में उत्पन्न होते हैं, वे रक्त द्वारा जिगर में पहुँचते हैं। वहाँ पर इन दूषित पदार्थों का अधिकांश भाग 'यूरिआ' नामक एक दूषित पदार्थ में परिणत हो जाता है। यूरिआ रक्त में मिश्रित होकर वृक्कों में पहुँचता है। वहाँ पहुँचने पर जब रक्त वृक्क की नलिकाओं के फूले हुए भाग के अन्दर की केशिकाओं में जाता है तब नलिकाओं के फूले हुए भाग केशिकाओं के रक्त से पानी का अधिकांश भाग खींच लेते हैं और उसे नलिकाओं में ढकेल देते हैं। जो रक्त नलिकाओं के चारों ओर वाली धमनियों तथा शिराओं में घूमता है उससे नलिकाएँ यूरिक ऐसिड आदि पदार्थ खींचकर नलिकाओं के अन्दर भेज देती हैं। नलिकाओं के अन्दर प्रवेश करने पर यह मल-पदार्थ उस पानी में नलियों के फूले हुए सिरे से छन जाता है।

### मूत्रमार्ग

अब यह पानी, जिसमें दूषित पदार्थ मिले रहते हैं, पतली-पतली नलियों में बहता हुआ वृक्क की मीनारों की बड़ी नलियों में पहुँचता है, और फिर मीनारों की चोटियों के छेद से निकलकर वह मूत्र की नली के ऊपरी चौड़े भाग में पहुँचता है। यही पानी-जैसा पदार्थ मूत्र कहलाता है, जो वहाँ से मूत्र-प्रणाली द्वारा मूत्राशय में इकट्ठा होता रहता है और समय-समय पर शरीर के बाहर मूत्र के रूप में बाहर निकाल दिया जाता है। इससे आपको ज्ञात हो जायगा कि वृक्क शरीर की रक्षा के लिए कितने आवश्यक हैं और किस प्रकार ये शरीर से दूषित पदार्थों को निकाल देते हैं।

### मूत्र-प्रणाली

दो मूत्र-प्रणालियाँ दोनों वृक्कों से निकलने के उपरांत पीछे आकर मूत्राशय से जा मिलती हैं। ये मूत्र-प्रणालियाँ १०–१२ इंच लम्बी होती हैं और इनकी मुटाई लगभग ⅛ इंच होती है। मूत्र-प्रणालियाँ कभी-कभी सिकुड़ती हैं और इसी कारण वृक्क से आया हुआ मूत्र मूत्राशय में बूँद-बूँद टपककर पहुँच जाता है।

### मूत्राशय

मूत्राशय शरीर के अन्दर नाभि के नीचे होता है। यह एक बहुत पतले आवरणवाले थैले के समान है और रबड़ की तरह छोटा-बड़ा हो सकता है। इसकी दीवारों में बहुत से मांससूत्र होते हैं। साधारणतः फैलने पर मूत्राशय में आधी बोतल या डेढ़पाव मूत्र समाता है, लेकिन पूरा फूलने पर इससे भी अधिक आ सकता है। मूत्राशय से ही लगी हुई एक नली होती है, जिसको मूत्रमार्ग कहते हैं। इसीके द्वारा मूत्र मूत्राशय से शरीर के बाहर निकल जाता है। पुरुषों में यह मूत्रमार्ग लगभग ८ इंच और स्त्रियों में १॥ इंच लम्बा होता है। जब मूत्राशय मूत्र-प्रणालियों द्वारा लाये हुए मूत्र से भली भाँति भर जाता है, तब इसके सिकुड़ने से मनुष्य को मूत्र करने की प्रेरणा होती है और वह उस दूषित तरल को मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकाल देता है। मूत्रमार्ग के अन्त में कुछ मांस-पेशियाँ होती हैं, जिनके कारण मूत्रद्वार सिकुड़ा रहता है और मूत्र को बाहर जाने से रोकता है। पर मूत्र त्यागने की आवश्यकता होने पर प्रकृति ने ऐसा प्रबन्ध किया है कि ये मांस-पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं और मूत्र बाहर निकल जाता है। बालकों में ये मांस-पेशियाँ दुर्बल रहती हैं, इसी कारण बच्चे मूत्र रोकने में बहुत असमर्थ होते हैं और जल्दी-जल्दी पेशाब करते हैं।

### मूत्र

अब आपको विदित हो गया होगा कि मूत्र क्या है। इसमें ९६ हिस्सा तो पानी होता है और केवल ४ हिस्सों में बहुत से ठोस पदार्थ घुले रहते हैं। प्रतिदिन साधारणतया ५० औंस मूत्र में २ औंस ठोस मूत्र-पदार्थ निकलता है। ताज़े मूत्र में सब लवण घुले रहते हैं, किन्तु कुछ समय ठहरने पर उसमें हलके रूई के गाले-सा पदार्थ बहने लगता है। यह मूत्र-प्रणालियों से आया हुआ श्लेष्मा होता है। लेकिन बहुधा मूत्र के ठंडे होने पर वह हलके गुलाबी या ईंट के रंग जैसे तलछट के रूप में नीचे बैठ जाता है। इस लवण में होते हैं—युरेट्स तथा लिथेट्स, जो शरीर के ताप से घुलनशील होते हैं और ठंडे मूत्र को थोड़ा गर्म करने पर लुप्त हो जाते हैं। एक दूसरा तलछट जो मूत्र में पाया जाता है फ़ासफ़ेट नामक लवण से उत्पन्न होता है। स्वस्थ मूत्र में यह सदैव रहता है। जब तक मूत्र आम्लिक होता है ये द्रव्य उसमें घुले रहते हैं। यदि मूत्र क्षारीय हो जाय तो वे नीचे बैठ जाते हैं। अतएव यदि हाल का मूत्र क्षारीय या बहुत हल्का आम्लिक हो तो अवश्य ही चिन्ता की बात है। इससे

## मूत्र-वाहक संस्थान के अंग
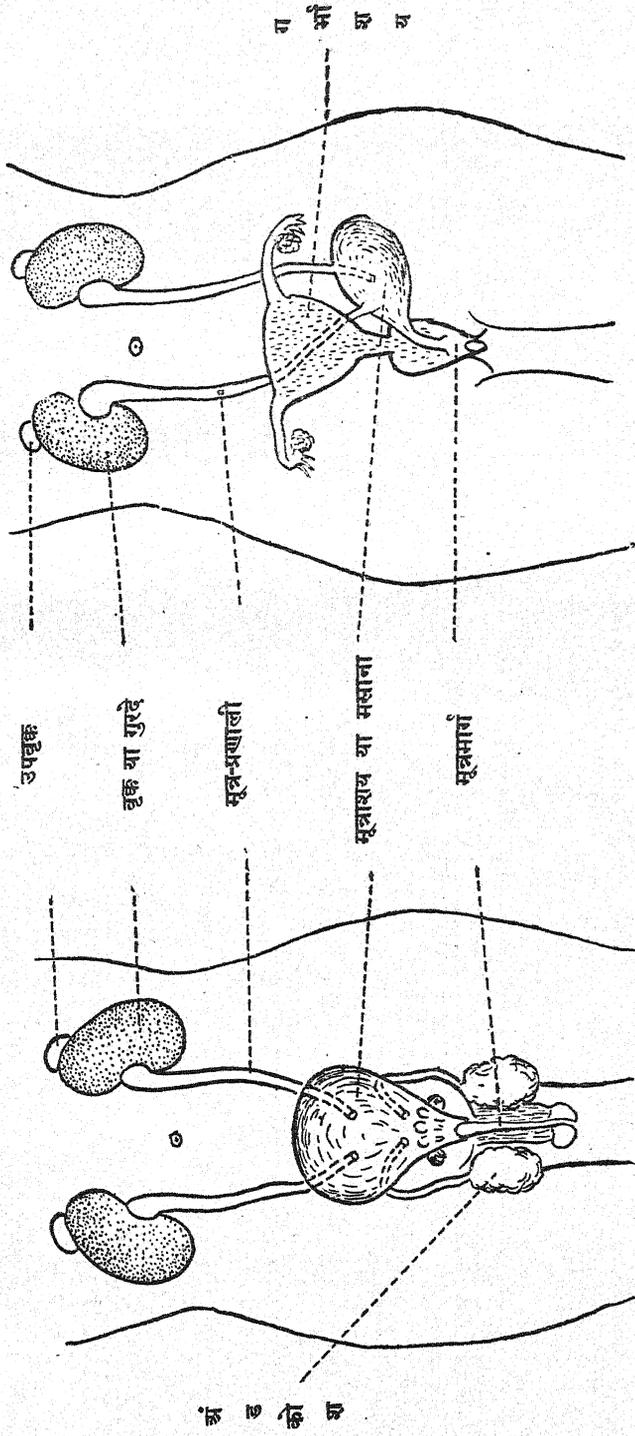
[ नर-शरीर ]

पुरुष के शरीर में मूत्र तथा शुक्र निकलने का मार्ग एक ही होता है और मूत्राशय के पीछे उससे बिल्कुल मिले हुए दो शुक्राशय रहते हैं। चित्र में मूत्राशय के पीछे मूत्र-प्रणालियों और शुक्र-प्रणालियों के मुख प्रदर्शित हैं।

[ नारी-शरीर ]

मूत्राशय का मुख योनि की ऊपरी दीवार से जुड़े हुए लगभग १॥ इंच लंबे मूत्रमार्ग में जाकर खुलता है। चित्र में गर्भाशय की स्थिति दर्शाने के लिए मूत्राशय कुछ बाजू को हटाकर दिखाया गया है।

शरीर दुर्बल हो जाता है और मूत्राशय में कोई रोग होने की सम्भावना होती है। एक और वस्तु जो साधारण मूत्र में थोड़ी मात्रा में मिलती है, यूरिक एसिड है। यह छोटे रवों के आकार में जम जाता है। मूत्र में इसके सदैव आने अथवा अधिक मात्रा में रहने से गठिया रोग होने की संभावना रहती है। इसी प्रकार जब मूत्र में प्रोटीन या शकर का अंश आने लगता है, तब भी स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो जाता है। ऐसी दशा में मूत्र का गुरुत्व बढ़ जाता है, साथ ही वह काफ़ी मात्रा में निकलने लगता है। शकर सहित बहुत अधिक मात्रा में मूत्र-प्रवाह होने की रोग-दशा 'बहुमूत्र', 'मधुमेह', 'डायबीटीज़' आदि नामों से पुकारी जाती है। इसी प्रकार प्रोटीन (या अलब्यूमीन) का मूत्र के साथ निकलना वृक्क-प्रदाह या दूसरे किसी रोग की सूचना समझी जाती है। आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली में मूत्र-परीक्षा को, इसीलिए, बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

(दाहिनी ओर)

**नर-मूत्रवाहक-संस्थान की पेचीदी रचना**

इसका सामने का दृश्य पृ० २६६७ के चित्र में दिग्दर्शित किया जा चुका है—यह उसका बाजू की ओर से दिखाई देनेवाला विस्तृत चित्र है। देखिए किस प्रकार मूत्राशय और शुक्राशय दोनों से क्रमशः निकलती हुई मूत्र और शुक्र-प्रणालियाँ एक ही निकास-नली में जा मिलती हैं। [१. मूत्र-प्रणाली, जो वृक्क से आ रही है; २. मूत्राशय का गर्त्त (खोलकर दिखाया गया है); ३. मूत्राशय की दीवार; ४. शिश्न-मूल (प्रोटेस्ट) ग्रंथि; ५. काउपर-ग्रंथि; ६. मूत्रमार्ग; ७. शिश्न; ८. उपांड; ९. शुक्र-ग्रंथि, १०. अंडकोश; ११. शुक्र-प्रणाली; १२. शुक्राशय।]
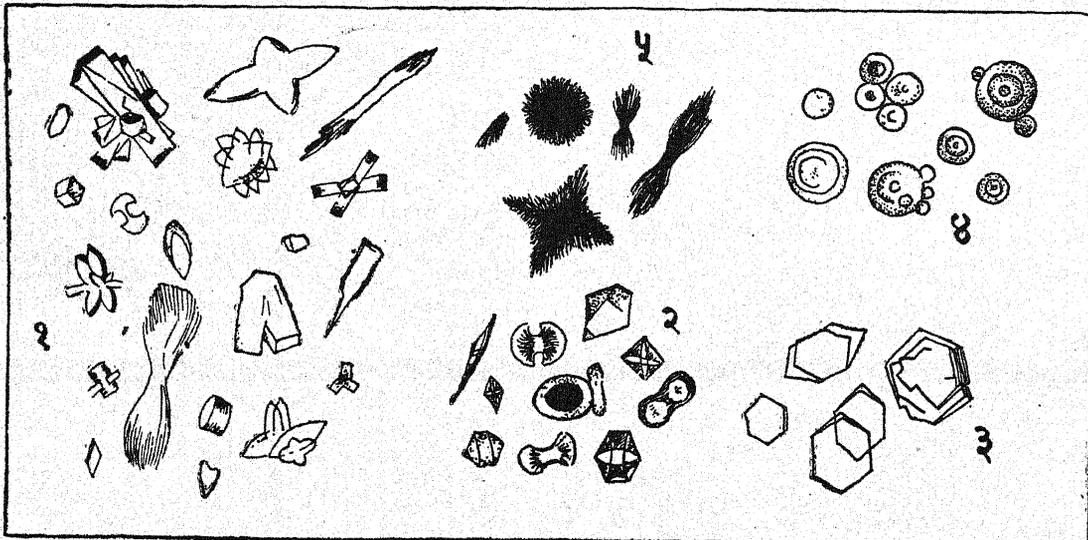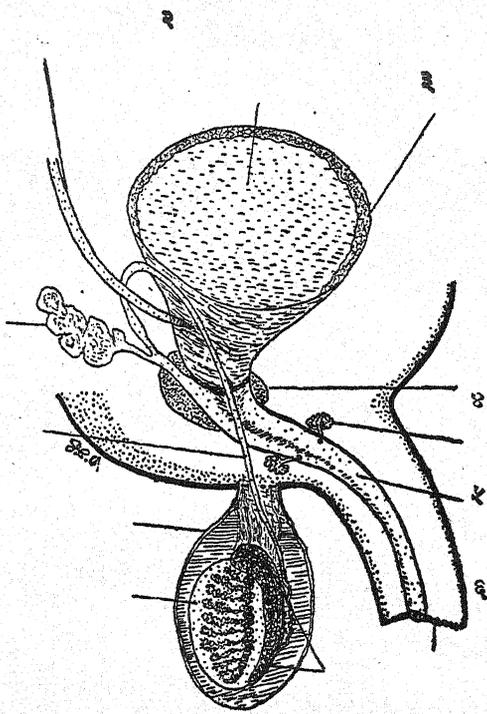
**मूत्र की तलछट में पाए जानेवाले अपद्रव्यों के रवे**

१. यूरिक ऐसिड; २. कैल्शियम आक्सेलेट; ३. साइस्टिन; ४. ल्यूसिन; ५. टायरोसिन।

# इच्छा और अभिप्रायिक क्रिया

"ख़ून !" डॉक्टर ने कहा ।

मैं अस्पताल निरीक्षण के लिए गया हुआ था । पता चला, डाक्टर साहब पोस्ट-मार्टम कर रहे हैं । पूछने पर मालूम हुआ, पुलिस-केस है, मामला ख़ून का है ।

डॉक्टर तो शरीर की चीरफाड़ कर सिर्फ़ इतना बता सकता था कि मृत्यु का कारण क्या था—ज़हर देकर मारा गया है या किसी प्रकार के अस्त्र-प्रयोग द्वारा, या कोई और कारण है । लेकिन मारने का उद्देश्य क्या था, हत्याकारी ने किस अभिप्राय से ऐसा किया, अथवा यदि यह आत्महत्या थी तो क्यों, आदि बताना या इसका पता लगाना पुलिस का काम हो सकता है, डाक्टर का नहीं । पूछने पर डाक्टर ने बताया भी नहीं, यद्यपि सारी बातें जानते हुए भी मैंने उत्सुकता से पूछा ही ।

अगर कोई आचरणवादी मनोविद् घटनास्थल पर होता तो उसने बड़ी आसानी से अपनी आँखें मूँद ली होतीं और वह कह देता—'हत्याकारी की कुछ विशेष नाड़ियों में मृत व्यक्ति की कुछ विशेष हरकतों के कारण कुछ विशेष प्रकार के स्फुरण होने के फलस्वरूप जो बाहरी क्रिया हुई उसी का परिणाम इस दूसरे व्यक्ति की मृत्यु है ।'

संयोजनावादी शायद बिल्कुल चुप रहा होता या उसने कहा होता कि इन फ़ालतू बातों से मनोविज्ञान को कोई वास्ता नहीं ।

लेकिन ऐसी हालत में मनोविज्ञान की व्यर्थता छोड़ और कुछ सिद्ध नहीं होता । इसके अलावा पुलिस या क़ानून इन दलीलों से चुप भी नहीं बैठ जाते । उन्हें तो हत्या के संबंध की सारी बातें जाननी ही हैं और इसका भी पता लगाना ही है कि इस हत्या का उद्देश्य क्या है ।

दैनन्दिन जीवन में पग-पग पर जो कुछ भी होता है, उसमें हम पाते हैं कि प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई उद्देश्य रहता ही है । अगर मेरा छोटा भाई रोज़ स्कूल जाता है तो इसमें भी उसका एक अभिप्राय है । अगर हम सिर्फ़ यही कह दें कि उसकी नाड़ियों की विभिन्न धाराएँ उसे ऐसा करने को प्रेरित करती हैं तो यह एक असंभव-सी बात छोड़ और कुछ नहीं होगी ।

मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में अपने प्रयोगों के सिलसिले में प्रायः ही यह बात हमारे दिमाग़ में आया करती थी कि टिचनर जहाँ अपने विद्यार्थियों से कोई प्रयोग करने को कहता है और साथ ही यह भी कहता है कि इच्छा नाम की कोई चीज़ ही नहीं, वहाँ वह इस तरह अपनी आँखें वास्तविकता के प्रति मूँद लेता है । टिचनर ने जब संयोजनावाद को रूप देने का निश्चय किया तो उसने अपने प्रयोगों के द्वारा यह बताया कि मनोविज्ञान किन रास्तों पर होकर सच ही मनोविज्ञान हो सकता है । क्या वह स्वयं यह बात कह सकता था कि उसके इस कार्य में कोई अभिप्राय नहीं था, कोई उद्देश्य नहीं था !

वाटसन के मनोविज्ञान में अभिप्राय का कोई स्थान नहीं । परन्तु वह एक स्थान पर लिखता है—

"१६१२ में चेष्टावादियों ने यह निश्चय किया कि चाहे तो मनोविज्ञान को तिलांजलि दे दी जाय अथवा इसे एक भौतिक विज्ञान बना दिया जाय... । आदमी के क्रिया-कलापों में चेष्टावादी की दिलचस्पी एक दर्शक की दिलचस्पी से बहुत अधिक है—वह तो मनुष्य की प्रतिक्रियाओं पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है ।" आप स्वयं देख लें, वाटसन के ये वाक्य उसके आन्तरिक अभिप्राय को कितने ज़ोर के साथ व्यक्त करते हैं ।

आप चाहे जिस तरह से भी देखने की चेष्टा करें, आपक यह बात माननी ही पड़ेगी कि मनुष्य के जीवन में अभिप्राय एवं इच्छा का एक प्रमुख स्थान है । अब प्रश्न यह उठता है कि इसे मनोविज्ञान में कौन-सी जगह दी जाय !

जब तक मनोविद् सिर्फ़ मनोविज्ञान की बात सोचते रहे, उन्होंने अभिप्राय को न सिर्फ़ पीछे डालकर रखा, बल्कि उसके अस्तित्व तक को अस्वीकार कर दिया। लेकिन जैसे ही उन्हें समाजविज्ञान अथवा सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में क़दम रखना पड़ा, उन्होंने देखा कि इच्छा तथा अभिप्राय को छोड़कर एक पग भी आगे बढ़ा नहीं जा सकता। चाहे टिचनर हो अथवा वाटसन, कूओ हो या पावलोव, भले ही वे अपनी प्रयोगशालाओं में अभिप्राय की निरर्थकता पर बड़े-बड़े भाषण देते रहें, लेकिन जहाँ पर मनुष्य-मनुष्य के आपसी संबंध की बात है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का वास्ता है, वे चाहें तो अपनी अज्ञानता अथवा ज़िद को मानकर चुप रह सकते हैं अन्यथा उन्हें अभिप्राय के अस्तित्व को मानना ही पड़ेगा।

यही हाल हुआ मैकडूगल का। वह सामाजिक मनोविज्ञान में दिलचस्पी ले रहा था और व्यक्ति की समाज में की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन उसका सारा ध्यान ले रहा था। उसने देखा कि आदमी अपनी वैयक्तिक या सामाजिक जिस किसी भी हैसियत से जो कुछ करता है उसके पीछे कोई-न-कोई मतलब रहता है। उसने यह भी देखा कि मनोविज्ञान के इस पहलू को उस समय के मनोविद्याविशारदों ने बुरी तरह बिसार रखा था, और यह समाजशास्त्री तथा अर्थशास्त्रियों के लिए ही छोड़ रक्खा था कि किसी प्रकार का मनोविज्ञान तैयार कर वे अपना काम चला लिया करें।

और मैकडूगल ने इसीलिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सामाजिक मनोविज्ञान की भूमिका" ( Introduction to Social Psychology ) लिखी। इसने उस समय के मनोविज्ञान में एक क्रान्ति खड़ी कर दी।

किसी भी मनोवैज्ञानिक को समाजशास्त्र के क्षेत्र में आते ही कुछ ऐसे ही प्रश्नों का सामना करना पड़ता है—मनुष्य गोष्ठी बनाकर क्यों रहता है ? उसे एक राज्य क़ायम करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? क्या समाज के अन्दर व्यक्ति की भलाई ही बड़ी चीज़ है अथवा अधिकतम संख्या की अधिकतम भलाई ही श्रेय है ? क्या अच्छा-बुरा का विचार करनेवाली आत्मा कोई आन्तरिक शक्ति है ? इन महत्वपूर्ण प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने की मनोविदों ने कभी तकलीफ़ ही नहीं उठाई।

मैकडूगल ने देखा, इस शुतुर्मुर्ग वाले सिद्धान्त से काम नहीं चलने का। और उसने पाया कि व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के पीछे एक अभिप्राय होता है। वह बेमतलब कुछ भी नहीं करता। उसके कुछ अभिप्राय चेतन हो सकते हैं, कुछ ऐसे हो सकते हैं जो चेतन न होते हुए भी उसके जीवन के साथ ही मिले हुए हैं। और फलतः उस महान् मनोवैज्ञानिक ने सहजात वृत्तियों के संबंध में कुछ सिद्धान्त निश्चित किए।

मैकडूगल ने अपने सिद्धान्त का नाम अभिप्रायवाद (Purposivism) रक्खा। उसके मनोविज्ञान को 'Hormic' मनोविज्ञान भी कहा जाता है। इसके अर्थ यह होते हैं कि प्राणी के प्रत्येक कार्य के पीछे अभिप्राय होते हैं, जो ही उसे कार्य करने की प्रेरणा देते रहते हैं।

अभिप्रायों का विश्लेषण करते चलिए तो आपको मालूम होगा कि प्राणी के अस्तित्व के लिए कुछ खास चीज़ों की आवश्यकता है, जैसे जीने के लिए उसे भोजन चाहिए, शत्रु से बचना चाहिए, और अपनी जाति अक्षुण्ण रखने के लिए प्रजनन की व्यवस्था करनी चाहिए। इन सारी चीज़ों को कार्यरूप देने के लिए उसे और भी कुछ विशेष कार्य करने चाहिएँ। कोई यह नहीं कहता कि प्राणी अपने जन्म के बाद इन सारी बातों को एक-एक कर सोचता है। प्रकृति स्वयं इन चीज़ों को उसके अन्दर भर कर ही भेजती है। उसे इस संबंध में विचार नहीं करना पड़ता, वे तो स्वयं समयानुसार प्रकट होती जाती हैं और प्राणी को तदनुसार कार्य करने को प्रेरित तथा बाधित करती हैं। हम-आप इनका नाम देते हैं—सहजात वृत्तियाँ। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, ये सहजात वृत्तियाँ हमारे-आपके जन्म के साथ ही आती हैं।

आपने शायद कभी यह देखा हो कि कुत्ते को हड्डी का टुकड़ा मिलने पर वह उसे चूसने के बाद मिट्टी में गाड़ रखता है। प्रत्येक कुत्ता ऐसा ही करता है। अगर किसी खास कुत्ते ने ऐसा किया होता तो आप कह सकते थे कि चूँकि उसे हड्डी का टुकड़ा बड़े भाग्य से ही प्राप्त होता है, अतः भविष्य में फिर उसका मज़ा लेने के ख़याल से वह ऐसा करता है। लेकिन जब हर कुत्ता यही करता है, चाहे वह भारत का हो या तिब्बत का, लखनऊ का हो या लंदन का, तो यह मानना ही पड़ेगा कि उसके इस आचरण के पीछे और कोई गहरी चीज़ है।

यह है उसकी सहजात प्रवृत्ति। इन प्रवृत्तियों की सत्ता क्यों है, यह नहीं बताया जा सकता। वे केवल हैं और इसीलिए हैं। आप उनका विश्लेषण कर अधिक से अधिक यह बता सकते हैं कि अमुक-अमुक प्रवृत्तियों से अमुक-अमुक फ़ायदे हैं। लेकिन जब वे आदमी के अन्दर हैं तो अपनी

पूर्त्ति कराके ही छोड़ेंगी। और तब आपको यह मानना पड़ता है कि यही मानसिक शक्तियाँ हैं जो उद्देश्य निर्धारित करती हैं और मनुष्य की चेष्टाओं को रूप देती हैं। विचार तो सिर्फ़ इनका हथियार है, जो इनकी ही सेवा के लिए है।

मज़े की बात यह है कि एक अर्से से बड़े-बड़े विचारक इस बात पर ज़ोर देते आ रहे हैं कि मनुष्य और इतर प्राणियों का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ और प्राणी प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होते हैं, वहाँ मनुष्य प्रवृत्तियों से बिल्कुल स्वाधीन है, वह सिर्फ़ अपनी विचार-बुद्धि द्वारा ही काम करता है। परन्तु वास्तविकता इस धारणा के बिल्कुल विपरीत है।

मैकडूगल ने प्राथमिक अभिप्राय इन प्रवृत्तियों को ही ठहराया। हर्बर्ट स्पेन्सर का कहना था कि प्रवृत्ति प्रतिवर्त्तों की एक reflex लड़ी मात्र है। लेकिन मैकडूगल ने देखा कि प्रवृत्तियाँ नाड़ियों की यान्त्रिक गतिमात्र ही नहीं। उसने तो यह भी देखा कि साधारण बुद्धि प्रवृत्ति और भावावेश को प्रायः एक ही समझती है। जैसे उदाहरणार्थ भय को ही ले लीजिए। इसे एक प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है और एक भावोद्वेग भी। यही हाल औत्सुक्य आदि का भी है।

मैकडूगल ने यह तय किया कि प्रत्येक प्रवृत्ति के केन्द्र में कोई न कोई भावोद्वेग है। इससे अलग एक और वस्तु है जो एक विशेष लक्ष्य की ओर बढ़ने की चेष्टा करती है। उदाहरण के लिए भय की प्रवृत्ति में पलायन की प्रेरणा है, क्रोध का भाव है तथा शत्रु पर आक्रमण की इच्छा है।

मैकडूगल के अनुसार प्रवृत्ति ही प्राथमिक उद्देश्य है, जो प्रत्येक कार्य के लिये प्रेरणा देती है। इसके मुख्य तीन भाग हैं:—

१—एक ओर तो कार्य की प्रेरणा जाग्रत करनेवाला वह स्वभाव है, जो बाहरी अथवा भीतरी उद्दीपन को देखता है।

२—दूसरी ओर वह स्वभाव है, जो चेष्टा को रूप देता है, अथवा अवस्था में परिवर्त्तन लाता है।

३—इन दोनों के बीच भावावेश रहता है।

इस तरह भय की प्रवृत्ति में एक खास पदार्थ का अवलोकन, पलायन, आक्रमण तथा क्रोध आदि सभी निहित हैं।

बहुत-कुछ इसी से मिलती-जुलती बात गेस्टाल्ट स्कूल के मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं। उनका विश्वास है कि मन का एक खास गुण है हर तरह के रिक्त स्थान की पूर्त्ति करना। अगर किन्हीं दो चीज़ों के बीच किसी प्रकार की खाई है तो यह उसे पाट देना चाहता है। उसे तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक दोनों चीज़ों के बीच संबंध स्थापित न हो जाय। इसलिए उनके विचार से किन्हीं भी दो चीज़ के बीच संबंध क़ायम कर देना ही मन का प्राथमिक उद्देश्य है।

एक उदाहरण लीजिए। एक बक्सा है, जो चारों ओर से बन्द है, और आप नहीं जानते कि यह किधर से खुल सकता है। आप उसे देखते हैं और आपको आश्चर्य होता है। आप यह भी देखते हैं कि एक लोहे का टुकड़ा उसी स्थान पर थोड़ा हटकर पड़ा हुआ है। आप सोचते हैं, हो सकता है उस लोहे के टुकड़े और बक्से के खुलने से कोई मतलब हो। और तब आप बक्से को उलट कर देखते हैं कि ठीक तो है, नीचे एक छेद है। आप उस लोहे के टुकड़े को उस छेद में डालते हैं, उसे घुमाने का प्रयत्न करते हैं और फ़ौरन् ही वह बक्सा खुल जाता है। और इसके साथ ही आपको शान्ति मिल जाती है।

जब तक आपको उस लोहे के टुकड़े और बक्से के बीच का संबंध नहीं सूझा था तब तक मन एक प्रकार की अशान्ति का बोध कर रहा था—उसके अन्दर एक रिक्त स्थान वर्त्तमान था। यह रिक्तता उसे सह्य नहीं थी, जैसे भी हो उसे वह पूरा करना चाहता था। पूरा होते ही उसकी अशान्ति का अन्त हो जाता है।

गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के मत से हम इस अशान्ति को ही प्राथमिक उद्देश्य समझ सकते हैं।

मैं पलंग पर बैठा लिख रहा हूँ, और मेरा सवा वर्ष का शिशु किरणकुमार बार-बार दावात पकड़ने की कोशिश कर रहा है। मैंने उसे पलंग से नीचे उतार दिया है। वह अपनी माँ का आँचल पकड़कर मेरी ओर दिखलाकर कह रहा है—ऊँ, ऊँ।

क्या आप कह सकते हैं, उसका यह कार्य उद्देश्यहीन है?

वाटसन भले ही कह दे कि हाँ। पर हमारे-आपके जैसा गृहस्थ तो सिर्फ़ यही कहेगा कि दावात को हस्तगत करना ही उस शिशु का उद्देश्य और उसकी स्याही से अपना स्वाँग बना लेना ही उसका अभिप्राय है।

और मैं उसकी इस महत्वपूर्ण इच्छा में बाधक हूँ।

लेकिन किया क्या जाय, प्रत्येक पिता ऐसा ह ना-समझ हुआ करता है!

छः हज़ार वर्ष प्राचीन मोहेंजोदड़ो के आश्चर्यजनक ध्वंसावशेषों का एक दृश्य

यह चौक नं० ६६ के मकान नं० १२ के अवशेषों का फ़ोटो है । इस प्रकार की साफ़-सुथरे ढंग की ईंटों से बनी हुई चौकोर दीवारों, पानी के बहाव के लिए निर्मित की गई पक्की मोरियों और नालियों, काफ़ी लंबी-चौड़ी गलियों और सड़कों, तथा विधिवत् स्नानागारों और जलाशयों आदि से युक्त छः हज़ार वर्ष पूर्व की इस भारतीय नगरी के स्थापत्य ने संसार के इतिहासज्ञों को चकित कर दिया है। [फ़ोटो—'भारतीय पुरातत्व-विभाग' की कृपा से]

# भारतीय कला—(२)

## प्रागैतिहासिक युग

भारत की प्रागैतिहासिक कला का भी श्रीगणेश हम बहुत-कुछ उसी प्रकार होते देखते हैं, जैसा कि अन्य देशों में देख चुके हैं। इस प्रागैतिहासिक कला का सर्वाङ्गसंपूर्ण इतिहास तो संभवतः कभी भी रेखांकित न किया जा सकेगा, अतः प्रस्तुत लेख में भी हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर ही प्रकाश डाल पाएँगे। विशेषज्ञों ने इतिहास से परे के उस पुरातन युग की पुरातत्त्व-विषयक ढेरों सामग्री को भूगर्भ में से खोद निकाला है, उसकी भूस्तर-विज्ञान, शिलीभूत-विद्या तथा मानव-शास्त्र की दृष्टि से गहरी छानबीन की है, और इस प्रकार प्राप्त सामग्री पर से बहुतेरे कामचलाऊ नतीजे निकले हैं। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के इतिहास का आदि-प्रस्तरयुग लगभग १७००० ईस्वी पूर्व, उत्तर-प्रस्तर-युग ७००० से ६००० ईस्वी पूर्व और लौह-ताम्र-कांस्य युग ४००० से १००० ईस्वी पूर्व के लगभग आरंभ होता है। रंग-ढंग में इस प्रागैतिहासिक युग से मिली हुई सारी सामग्री बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी अन्य देशों में मिली है, अतएव इस दृष्टि से भारत के आदिकाल के चकमक पत्थर से बने औज़ार-हथियार, अस्त्र-शस्त्र, मिट्टी के बर्त्तन आदि अपनी कोई ऐसी विशेषता नहीं रखते जो दूसरी जगहों से प्राप्त सामग्री की तुलना में उन्हें किसी प्रकार की विशिष्टता प्रदान कर सके। इसमें संदेह नहीं कि इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से इन वस्तुओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। परन्तु यदि हम उनमें वास्तविक कला के अंकुर खोजना चाहें तो अभी वे हमें देखने को नहीं मिलते—वह तो बहुत बाद की बात है।

भारत की प्रागैतिहासिक युग की गुहा-चित्रकारी का विवेचन यदि हम किसी सुनिश्चित तिथिक्रम में करना चाहें तो यह संभव नहीं है। परन्तु चूँकि वही भारतीय कला के प्रस्फुटन के आदि अंकुरों के रूप में हमें उपलब्ध है, अतएव यहाँ हम एक-दो विशिष्ट उदाहरण लेकर कुछ विस्तारपूर्वक उसकी आलोचना करेंगे। ये गुहा-चित्र सारे भारतवर्ष में काफ़ी विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए मिलते हैं—उनकी शृंखला उत्तर-पश्चिम में सुदूर क़लात से आरंभ होकर बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड, मिर्ज़ापुर, रायगढ़, छोटा नागपुर होते हुए दक्खिन के कुनूल

घाटशिला में प्राप्त प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों का एक नमूना

छः हज़ार वर्ष प्राचीन मोहेंजोदड़ो के आश्चर्यजनक ध्वंसावशेषों का एक दृश्य

यह चौक नं० ६६ के मकान नं० १३ के अवशेषों का फ़ोटो है । इस प्रकार की साफ़-सुथरे ढंग की ईंटों से बनी हुई चौकोर दीवारों, पानी के बहाव के लिए निर्मित की गई पक्की मोरियों और नालियों, काफ़ी लंबी-चौड़ी गलियों और सड़कों, तथा विधिवत् स्नानागारों और जलाशयों आदि से युक्त छः हज़ार वर्ष पूर्व की इस भारतीय नगरी के स्थापत्य ने संसार के इतिहासज्ञों को चकित कर दिया है। [फ़ोटो—'भारतीय पुरातत्व-विभाग' की कृपा से]

# भारतीय कला—( २ )

## प्रागैतिहासिक युग

भारत की प्रागैतिहासिक कला का भी श्रीगणेश हम बहुत-कुछ उसी प्रकार होते देखते हैं, जैसा कि अन्य देशों में देख चुके हैं। इस प्रागैतिहासिक कला का सर्वाङ्गसंपूर्ण इतिहास तो संभवतः कभी भी रेखांकित न किया जा सकेगा, अतः प्रस्तुत लेख में भी हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर ही प्रकाश डाल पाएँगे। विशेषज्ञों ने इतिहास से परे के उस पुरातन युग की पुरातत्त्व-विषयक ढेरों सामग्री को भूगर्भ में से खोद निकाला है, उसकी भूस्तर-विज्ञान, शिलीभूत-विद्या तथा मानव-शास्त्र की दृष्टि से गहरी छानबीन की है, और इस प्रकार प्राप्त सामग्री पर से बहुतेरे कामचलाऊ नतीजे निकले हैं। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के इतिहास का आदि-प्रस्तरयुग लगभग १७००० ईस्वी पूर्व, उत्तर-प्रस्तर-युग ७००० से ६००० ईस्वी पूर्व और लौह-ताम्र-कांस्य युग ४००० से १००० ईस्वी पूर्व के लगभग आरंभ होता है। रंग-ढंग में इस प्रागैतिहासिक युग से मिली हुई सारी सामग्री बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी अन्य देशों में मिली है, अतएव इस दृष्टि से भारत के आदिकाल के चकमक पत्थर से बने औज़ार-हथियार, अस्त्र-शस्त्र, मिट्टी के बर्त्तन आदि अपनी कोई ऐसी विशेषता नहीं रखते जो दूसरी जगहों से प्राप्त सामग्री की तुलना में उन्हें किसी प्रकार की विशिष्टता प्रदान कर सके। इसमें संदेह नहीं कि इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से इन वस्तुओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। परन्तु यदि हम उनमें वास्तविक कला के अंकुर खोजना चाहें तो अभी वे हमें देखने को नहीं मिलते—वह तो बहुत बाद की बात है।

भारत की प्रागैतिहासिक युग की गुहा-चित्रकारी का विवेचन यदि हम किसी सुनिश्चित तिथिक्रम में करना चाहें तो यह संभव नहीं है। परन्तु चूँकि वही भारतीय कला के प्रस्फुटन के आदि अंकुरों के रूप में हमें उपलब्ध है, अतएव यहाँ हम एक-दो विशिष्ट उदाहरण लेकर कुछ विस्तारपूर्वक उसकी आलोचना करेंगे। ये गुहा-चित्र सारे भारतवर्ष में काफ़ी विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए मिलते हैं—उनकी शृंखला उत्तर-पश्चिम में सुदूर क़लात से आरंभ होकर बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड, मिर्ज़ापुर, रायगढ़, छोटा नागपुर होते हुए दक्खिन के कुनूल

घाटशिला में प्राप्त प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों का एक नमूना

और वाइनाड़ ज़िलों की 'बिल्ला सुर्गम' तथा 'एड़ाकाल' गुफाओं में जाकर समाप्त होती है। इस संबंध में एक बात बड़े मार्के की यह है कि हिमालय में अब तक प्रागैतिहासिक गुहाचित्रकारी के ऐसे कोई भी नमूने नहीं मिले हैं, यद्यपि आदिकाल ही से वह प्रदेश हमारे यहाँ 'देवों की निवासभूमि' माना जाता रहा है। इसका कारण कोई-कोई यह बताते हैं कि भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से हिमालय का उद्भव बहुत बाद को हुआ है, और कोई इस सिलसिले में उस महान् प्रागैतिहासिक मध्य-एशियाई महासागर का ही नाम लेते हैं, जिसने एक ज़माने में सारे उत्तरी भारत और तिब्बत के प्रदेश को परिप्लावित कर मध्यभारत तथा दक्खिन के भूभाग को उस शेष भूखंड से एकदम पृथक् कर रक्खा था, जिसे कि आज हम एशिया के नाम से पुकारते हैं। जो कुछ भी कारण हो, इस बात के रहस्य का अभी तक कोई संतोषजनक निराकरण नहीं हो पाया है।

सिंघनपुर की गुफाओं के प्रागैतिहासिक चित्रों का एक उदाहरण।

भारतवर्ष में जो प्रागैतिहासिक कंदरालय अब तक मिले हैं, उनमें सबसे प्राचीन हैं 'बिल्ला सुर्गम' नामक गुफाएँ। ये गुफाएँ सबसे पहले कैप्टैन न्यूबोल्ड द्वारा सन् १८४४ ई० में खोजी गई थीं और उन्होंने ही इनकी बहुत-कुछ आरंभिक छानबीन भी की थी, यद्यपि विशेषज्ञों द्वारा उनका विधिवत् अनुसंधान किया गया लगभग ४० वर्ष बाद। इन गुफाओं में अत्यंत प्राचीन ढंग के मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़ों और बहुतेरे पुराने जानवरों की अस्थियों के रूप में तो काफ़ी मूल्यवान् सामग्री मिली है, परन्तु उनमें किसी तरह की भित्ति-चित्रकारी, या खुदाई-नक्क़ाशी का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता। यह धारणा की जाती है कि इन गुफाओं में जो एक गुफा आज 'परियों का कक्ष' कहकर पुकारी जाती है, वह संभवतः ऐसे तांत्रिक अनुष्ठानों के प्रयोग के लिए काम में लाई जाती रही हो जैसे कि आदि शक्ति की आराधना-उपासना में प्रयुक्त होते हैं।

वाइनाड़ की 'एड़ाकाल गुफ़ाएँ' कालीकट से लगभग ५६ मील और उटकमंड से भी क़रीब उतने ही फ़ासले पर स्थित हैं। उनका पता पहलेपहल १९०१ ई० में एक अंग्रेज़ पुलिस-सुपरिंटेंडेंट, मि० फासेट, द्वारा लगा था और उनमें कई मानवाकृतियाँ तथा पशुओं के खुदे हुए शिला-चित्र पाए गए हैं। इन खुदे हुए शिला-चित्रों की सबसे मनोरंजक विशेषता सिर पर धारण किए हुए एक विचित्र प्रकार के वेश से युक्त उनमें प्रचुर रूप से पाई जानेवाली मानवाकृतियाँ हैं। अनेक पशुओं की भी आकृतियाँ उनमें सम्मिलित हैं और स्वस्तिक, सूर्य-चक्र, तथा चतुष्कोण तांत्रिक यंत्र जैसे आमतौर से पाए जानेवाले सामान्य भारतीय प्रतीक भी उनमें देखने को मिलते हैं।

पहाड़ी चट्टानों पर खुदे हुए शिला-चित्रों का एक और मनोरंजक उदाहरण कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डा० पंचानन मित्र ने सिंघभूम ज़िले के मऊभंदर गाँव के पास घाटशिला नामक स्थान में खोज निकाला था। ये शिला-चित्र काले पाषाण पर नक़्क़ाशी किए हुए हैं और उनमें तथा ऑस्ट्रेलिया के 'ब्रेट्री बे' नामक स्थान में पाए गए प्रसिद्ध शिला-चित्रों में एक निश्चित समानता दिखाई देती है (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)।

विगत शताब्दी के अंतिम दिनों में मि० जॉन कॉकबर्न नामक एक योरपीय सज्जन को कैमूर-पहाड़ियों के सिलसिलों में कई प्रागैतिहासिक चित्रों का पता लगा।

यह चित्रकारी सीधी खड़ी चट्टानों के पृष्ठों पर तथा ऐसी कंदराओं में, जो कि 'शिला-कुटीर' (Rock Shelters) के नाम से पुकारी जाती हैं, की गई है और कैमूर-पहाड़ियों के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सिलसिलों एवं उनके बीच के पठार के प्रदेश में भी पाई गई है, जिसकी कि चौड़ाई बीस से तीस मील तक है और जो मिर्ज़ापुर तथा चुनार से पाभोगा और चित्रकूट तक फैला है! इन गुहा-चित्रों में से अधिकांश में शिकारियों और आखेट के ही दृश्य चित्रित हैं। मिर्ज़ापुर के परगना अहरौरा के भल्दुरिया नामक स्थान के चित्र में एक ऐसे कृष्णमृग के शिकार का दृश्य है जिसके सींग आगे को निकले हुए हैं और लोहरी-गुफ़ा के चित्र में बिड़ाल-वर्ग के किसी जानवर को शिकार में मारने का दृश्य अंकित है। इसमें शिकारी हाथ में एक मशाल या फेंकने के बर्छे-जैसी कुछ चीज़ ऊँचा उठाए हुए प्रदर्शित है। इसी प्रकार सोन नदी की उपत्यका में टूप्पै-चौरासी नामक स्थान के सम्मुख स्थित लिखुनिया नाम की शिला-कुटीर के चित्र में एक शिकारी पत्थर के भाले से एक हरिणी का शिकार करते हुए दिखाया गया है। इन दुर्गम कंदराओं में से अधिकतर प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विषयक सामग्री के एक प्रकार के अजायबघरों जैसी हैं, जिनमें पाए जानेवाले चकमक पत्थर के छुरों-चाकुओं, बाणों के फलों, बरमियों, फरसों, मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़ों, जली हुई हड्डियों और शिलीभूतों के अवशेषों को छाँटकर एक बढ़िया संग्रह जुटाया जा सकता है। घोड़माँगर नामक स्थान की गुफ़ा में शिकार का एक बहुत ही उत्तेजनापूर्ण दृश्य चित्रित है, जिसमें एक साथ छः आदमी एक सींगदार गैंड़े पर आक्रमण करते हुए दिखाए गए हैं। इनमें से एक को गैंडे ने अपने थूथन के सींग से लथेड़कर ऊँचा उछाल दिया है। पीछे की ओर टोली में का एक आदमी, जो अपने सिर पर एक असाधारणतया बड़ा शिरोवेश धारण किए हुए है और संभवतः इन सबका सरदार है, गैंडे की पीठ में अपना बर्छा घुसेड़कर उसको दूसरी ओर मोड़ने के प्रयत्न में संलग्न दिखाया गया है। उसकी भावभंगी से ऐसा प्रतीत होता है मानों उसने वार करने में अपने वज़न का सारा ज़ोर भाले के ऊपर लगा दिया हो! क्रोधित गैंडे के सामने की ओर जो दो आदमी हैं, उनमें से एक की मुद्रा अत्यन्त सतेज और कर्मण्य गतिशीलता की द्योतक है। उसके हाथ में है कड़े किए हुए काठ का एक साधारण भाला, जिसमें आस-पास दो अतिरिक्त फल लगे हुए हैं। इस भाले को वे गैंडे की छाती पर संधाने हुए है।

सिंघनपुर की गुहा-चित्रकारी का अन्य एक नमूना।

इसी तरह के शिकार के दृश्य परगना बरहर के रूप नामक गाँव में और बिजयगढ़ के समीप हरिनहरणा नामक स्थान की गुफ़ा की चित्रकारी में भी पाए जाते हैं। बघेलखण्ड के मोरहना पहाड़ और घरवी पहाड़ की कंदराओं में लाल गेरू के रंग में रूखे ढंग से की गई एक तरह की चित्रकारी मिलती है, जिसमें एक बहुत ही पुरातनताद्योतक गतिहीन शैली में सामान्य शिकार के दृश्यों के अलावा प्राचीन पत्थर गढ़नेवालों की ज़िन्दगी के कुछ दृश्य चित्रित हैं। इसी प्रकार के लाल गेरू में विंध्याचल के बलुए पत्थर पर चित्रित अन्य कुछ प्रागैतिहासिक रेखाचित्र मि० सिल्बेराद नामक सज्जन ने मानिकपुर रेल्वे स्टेशन से १॥ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित सरहाट में, बदौसा रेल्वे स्टेशन से १६ मील दक्षिण स्थित गुड़हमपुर में, मानिकपुर से १२ मील दक्षिण-पूर्व में मौज़ा कठौता ममनिया के कुड़ियाकुंड नामक स्थान में और चौरी की जंगल-चौकी से १॥ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित कर्पटिया नामक स्थान में भी खोज निकाले थे। इन रेखाचित्रों में विशेषज्ञों ने आदि भारतीय-ऑस्ट्रेलियन संस्कृतियों के सम्मिलन का बहुत-कुछ आभास पाया है और इनके आधार पर प्राचीन भूगोल तथा मानवशास्त्र के

संबंध में तरह-तरह की अटकल-पचू धारणाएँ खड़ी की गई हैं।

किन्तु अब तक जितनी भी ऐसी प्रागैतिहासिक गुहा-चित्रकारियाँ इस देश में पाई गई हैं, उनमें हमारे अपने मतलब की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण हैं मध्यप्रदेश की सिरगुजा रियासत के रायगढ़ नामक स्थान के समीप की एक पहाड़ी पर स्थित कुछ गुफाओं की चित्रकारी। इस स्थल पर पहुँचने के लिए सबसे नज़दीक का स्टेशन बंगाल-नागपुर-रेल्वे का नहरपाली स्टेशन है, जिसके ठीक उत्तर में दो मील के फ़ासले पर एक ऊँचा चट्टानी टीला दिखाई पड़ता है। इसी के दक्षिणी पृष्ठ में निर्मित कुछ छिछली गुफाओं में सन् १९१० में बंगाल-नागपुर-रेल्वे के एक अफ़सर, मि० एंडरसन, ने ऊपर उल्लिखित महत्त्वपूर्ण चित्रकारी की खोज की थी। इस पहाड़ी की तलहटी में सिंघनपुर नाम का एक गाँव बसा हुआ है, इसीलिए इन गुफा-चित्रों का नाम उक्त गाँव के नाम पर ही पड़ गया है। सिंघनपुर के ये भित्ति-चित्र तीन वर्गों में बँटे हुए हैं—१. वे जो कंदरा की ही दीवारों पर चित्रित हैं; २. वे जो समीप के एक गहरे खड्ड के पृष्ठ पर रेखांकित हैं; ३. वे जो बिल्कुल खुली हुई चट्टानों के पृष्ठ पर चित्रित हैं। भारतीय कला के विख्यात इतिहासज्ञ और जानकार मि० पर्सी ब्राउन का मत है कि इन भित्ति-चित्रों में स्पष्टतया दो विभिन्न शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनमें एक प्राचीनतर और अधिक स्पष्ट, तथा दूसरी किचर-पिचर ढंग की और लापरवाह जैसी है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मिट्टी का बर्त्तन ( फ़ो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' )

जो चट्टानों के पृष्ठ इस चित्रकारी के लिए काम में लाए गए हैं, वे कोई खास तौर से इस कार्य के लिए तैयार किए गए नहीं जान पड़ते, बल्कि चित्रकार ने अपनी मनमानी चाह के अनुसार ही शिला-पृष्ठ के अधिक चिकने भागों को अपने काम के लिए चुन लिया है। यह चित्रकारी लाल गेरू के रंग से की गई है, जो कि इस स्थान के आस-पास सुलभ्य है और रंग संभवतः बाँस या नरकुल से बनाई गई कूँचियों से लगाया गया होगा। बल्कि अधिक संभावना तो यह है कि रंगों को लगाने के लिए जिस तूलिका से काम लिया गया होगा वह कूँची या ब्रुश जैसी न होकर लेखनी की तरह कड़ी और नुकीली रही होगी। इस पर भी इन चित्रों की रेखाओं में जो मृदु सुकुमारता की झलक दिखाई देती है, उसका कारण संभवतः समय का प्रभाव अथवा उक्त चट्टानों की जाति-विशेषता रही हो, जिससे कि रंग उनमें सोखा जाकर उनकी रगों में प्रविष्ट हो गया है।

इन चित्रों के विषय हैं—१. आखेट के दृश्य; २. मानव-समूह; ३. चित्र-लिपि, और ४. पशुओं, उरंगमों आदि की आकृतियाँ। प्रस्तुत लेख के साथ इन गुहा-चित्रों के जो नमूने दिए जा रहे हैं, उनमें पृ० २७०४ के चित्र में शिकारियों द्वारा संभवतः एक जंगली भैंसे के आखेट का सतेज चित्रांकन है। इस चित्र में कलाकार ने बड़े दर्शनीय ढंग से भैंसे द्वारा शिकारियों में से एक व्यक्ति के उछाल दिए जाने की क्रिया दिग्दर्शित की है और शेष व्यक्तियों में से कुछ ऐसे दिखाए गए हैं मानों या तो वे मर चुके हों या सख्त घायल हो गए हों। दूसरे नमूने में ( दे० पृ० २७०५ का चित्र ) संभवतः शिकारियों द्वारा घेरे जाने पर सामना करने के लिए उठ खड़े हुए एक भालू का चित्र है, जिसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि रायगढ़ के आसपास का प्रदेश इन दिनों भी भालुओं के लिए प्रख्यात है।

इन भित्ति-चित्रों में चित्रित मानव-समूहों का रेखांकन भी बहुत ही दिलचस्प है। अधिकतर लोग या तो किसी धार्मिक रस्म को अदा करते हुए या नृत्य करते हुए ही दिखाए गए हैं। प्रायः ऐसे प्रत्येक चित्र में नृत्य के समय की गतियुक्त टेढ़ी-मेढ़ी टाँगों और ऊपर उठी हुई बाहों वाली मुद्रा ही प्रदर्शित है। चित्रलिपि के आलेखों में से कई तो रंग-ढंग में इतने क्लिष्ट हैं कि आज के दिन पढ़कर उनके अर्थ को समझना असंभव-सा है। हाँ, पशुओं और उरंगमों के

जो चित्र अंकित किए गए हैं, वे एकदम सजीव-जैसे और ओजपूर्ण हैं। छिपकलियों के चित्र तो खास तौर से बहुत अच्छे हैं और एक पशु-चित्र में, जो संभवतः साँभर का प्रतीत होता है, कई नैसर्गिक विशेषताएँ प्रत्याङ्कित दिखाई देती हैं।

इन चित्रों की कलात्मक व्यञ्जना यद्यपि उच्च कोटि की नहीं है, फिर भी उनमें से कुछ में तूलिका के प्रयोग की वैसी ही विधि का आभास हमें मिलता है, जैसा कि स्पेन में कोगूल नामक स्थान के भित्ति-चित्रों के आदिकालीन चित्रांकनों में के प्राचीनतर नमूनों में दिग्दर्शित है। सिंघनपुर के इन भित्ति-चित्रों की प्रमुख कला-विशेषता उनका उल्लसित भाव-प्रदर्शन तथा विषयाङ्कन संबंधी उनका धाराप्रवाह है। इन गुहा-चित्रों और प्रागैतिहासिक मिस्र के तथाकथित जालीदार रेखाओं से खचित मिट्टी के बर्त्तनों पर की चित्रकारी में बहुत-कुछ जातीय समानता-सी देखी जा सकती है।

**मोहेंजोदड़ो की खुदाई में निकली मूर्त्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कलाकृति**

यह किसी योगी की मूर्त्ति मानी जाती है। (फ़ो० —'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

भारत की पुरातन चित्रकारी के ऐसे नमूनों में जिनके कि विषय में कोई निश्चित तिथि क़ायम की जा सकती है, सबसे ठोस उदाहरण सिरगुजा रियासत की रामगढ़-पहाड़ियों की जोगीमारा-गुफा के भित्ति-चित्रों में हमें मिलते हैं। ये भित्ति-चित्र ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में बनाये गए थे, ऐसा माना जाता है। ये चित्र अपने मूल रूप में तो अब देखने को नहीं मिल सकते, क्योंकि संभवतः धुँधले पड़ जाने के कारण कालान्तर में सद्भावनापूर्वक उनका जीर्णोद्धार किया जाता रहा और उनका वही रूपान्तर अब हमें उपलब्ध है। फिर भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मूल रूप में इस गुहा में ऐसी ही चित्रित पट्टियों की एक ही केन्द्र से विकीर्ण एक पूरी शृंखला-सी थी, जिसमें मानवाकृतियाँ, पशु और भवन आदि विविध विषयों का निदर्शन किया गया था। बाद के जीर्णोद्धारकों द्वारा उनका बहुत-कुछ रूपान्तर हो जाने पर भी उनमें हम उस युग की मूर्त्ति एवं भवन-निर्माण-कला की शैली विशेष के साथ बहुत-कुछ समानता पाते हैं। ये चित्र-पट्टियाँ मछलियों, मकरों तथा अन्य जल-जीवों की आकृतियों के बार-बार प्रयोग से बनाए गए एक प्रकार के बार्डर से परिवेष्ठित हैं। सच पूछिए तो इन चित्रों में जो कहानी चित्रांकित की गई है, उसका पूरा रहस्योद्घाटन तथा अर्थ-विवेचन अभी तक हो पाया नहीं है।

जोगीमारा की यह कंदरा केवल १० फ़ीट लंबी और ६ फ़ीट चौड़ी है और उसकी ऊँचाई इतनी कम है कि कोई भी औसत क़द का आदमी खड़ा होकर उसकी छत को छू सकता है। गुफ़ा का एक पृष्ठ खुला हुआ है, अतएव उसके भीतरी हिस्से में काफ़ी उजाला रहता है।

इस गुहा-चित्रशाला में ऊपर उल्लिखित आलंकारिक चित्र-पट्टियों के अतिरिक्त एक-दो ऐसे चित्र भी हैं, जिनमें कुछ स्वतंत्र विषयों का रेखाङ्कन हुआ है, जैसा कि वृक्ष के नीचे बैठे हुए पुरुषों की एक टोली का अथवा एक पुष्करिणी के बीच खड़ी नर्तकियों की एक जोड़ी का चित्र। इनमें हम प्राचीन काल के भवनों तथा रथों के-से वाहनों के भी अविकसित चित्रण के कुछ नमूने देख सकते हैं। इन चित्रों में जो कलातत्त्व है, वह अजंता, बाघ अथवा सिगरिया के विख्यात भित्ति-चित्रों से बहुत अधिक निम्न कोटि का है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु इन आदिकालीन चित्रांकनों में आगे आनेवाले उषःकाल की अरुणिमा का कुछ धूमिल आभास अवश्य देखा जा सकता है।

ऊपर उल्लिखित प्रागैतिहासिक कला तथा कंदरा-चित्रों की मंज़िल से उठकर एकदम मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की कला की ओर अग्रसर होना काफ़ी लंबी छलाँग भरने जैसा है, और आज से तीस वर्ष पूर्व तो प्रागैतिहासिक स्थिति से इतिहास की ओर की इस कुदान के बीच का फ़ासला कहीं और भी अधिक था, क्योंकि तब तक इतिहास से परे के धुँधले युग की आदि कला और आरंभिक बौद्धों की सुविकसित प्रौढ़ कला के बीच के युग के संबंध में किसी को भी कोई जानकारी न थी। धन्यवाद है श्री राखालदास बेनर्जी और दयाराम साहनी तथा उनके मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा-संबंधी अनुसन्धानों को, जिनकी वजह से भारतवर्ष का आदि इतिहास अब ४००० ईस्वी पूर्व तक मानों पीछे खिसका दिया गया है और उसकी कड़ी सुमेरियन संस्कृति से जुड़ गई है, जिसका कि वह अब पुरखा माना जाने लगा है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक देवी की मृण्मय-मूर्त्ति (फ़ो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

मोहेंजोदड़ो के मुक़ाम की स्थिति का पता तो सिंध के राज्याधिकारियों को बहुत अर्से से था, परन्तु उसके ध्वंसावशेषों की प्रागैतिहासिकता का रहस्योद्घाटन उस समय तक नहीं हुआ जब तक कि सन् १९२२ में स्वर्गीय श्री राखालदास बेनर्जी ने उसकी खुदाई के काम का श्रीगणेश न किया। इस खुदाई से पहले ही मोहेंजोदड़ो के खँडहरों पर एक स्तूप खड़ा था और आम तौर से यह धारणा की जाती थी कि वहाँ के शेष अवशेष भी उसी काल के होंगे जिस काल के कि वहाँ के बौद्ध स्मारक थे, अर्थात् ईस्वी सन् की आरंभिक शताब्दियों के। परन्तु उन बौद्ध अवशेषों की खुदाई कराते समय श्री राखालदास को दैवयोग से धरती में से कई अनोखी मिट्टी की मुद्राएँ मिलीं, जिन्हें पहचानते उन्हें देर न लगी कि वे उसी जाति की थीं जिस जाति की मुद्राएँ पंजाब के मांटगुमरी ज़िले के हड़प्पा नामक स्थान के ध्वंसावशेषों में पहले मिल चुकी थीं और जिनकी जानकारी भारतीय पुरातत्वविदों को काफ़ी अर्से से थी। इन मुद्राओं पर एक ऐसी अज्ञात लिपि में कुछ आलेख अंकित थे, जिसका आज दिन अर्थ नहीं लगाया जा सकता था। बहुत पहले सन १८५३ ई० में सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् जनरल कनिंघम ने जाकर हड़प्पा के खँडहरों का निरीक्षण किया था और वहाँ उन्हें अधिकतर एकशृंग (Unicorn) जैसे किसी पशु की आकृति तथा किसी अज्ञात चित्रलिपि में अंकित आलेखों से खचित ऐसी ही मुद्राएँ देखने को मिली थीं। इस जगह का और वहाँ से मिली सामग्री का वर्णन उन्होंने १८७५ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में किया था, किन्तु उसके बाद लगभग आधी शताब्दी तक वह मामला यों ही पड़ा रहा, उसे किसी ने फिर से उठाया ही नहीं। जब श्री राखालदास को ताम्र-पाषाण-युग की-सी प्रतीत होनेवाली ठीक हड़प्पा में मिली मुद्राओं जैसी ही वे मुद्राएँ मोहेंजोदड़ो के मुक़ाम पर भी मिलीं तो उन्होंने अपनी इस खोज का महत्त्व समझा और फलतः उन्होंने उस बौद्ध विहार के आसपास और भी अधिक खुदाई करने के प्रति पैर बढ़ाया। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि मोहेंजोदड़ो की आबोहवा उग्र होने के कारण अत्यंत कष्टप्रद थी और डेरे-तंबुओं में जीवन बिताते समय की मुसीबतों का भी कोई पारावार न था। साथ ही भारत-सरकार की ओर से इस खुदाई के काम के लिए आवश्यक धन भी उपलब्ध नहीं हो रहा था। परन्तु इन सब आपदाओं का सामना करते हुए भी श्री बेनर्जी ने वीरतापूर्वक खुदाई का वह काम जारी रक्खा!
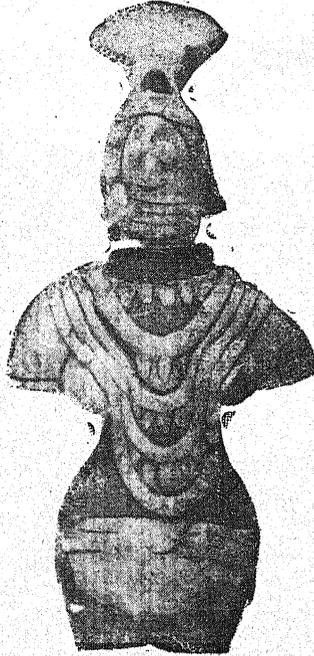
भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर-जनरल, सर जॉन मार्शल, ने श्री बेनर्जी के कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनकी निम्न शब्दों में उचित ही सराहना की है—"मोहेंजोदड़ो में उनका काम जैसा कि आज दिन दिखाई देता है वैसा सरल कदापि नहीं था, वह एक अत्यन्त दुष्कर कार्य था। हड़प्पा में मिली सामग्री के अलावा (और उसे भी श्री बेनर्जी ने स्वयं देखा नहीं था) सिंधु-काँठे की इस सभ्यता के संबंध में इस समय तक किसी को भी कुछ ज्ञात नहीं था। इस पर मुसीबत यह थी कि उस सभ्यता के भवनों के खँडहरों के रूप में जो थोड़े बहुत अवशेष उन्होंने खोदकर बाहर निकाले थे, वे सब ऐसी ईंटों से बने हुए थे, जो कि ऊपरी स्तर के बौद्ध स्तूप और विहार के निर्माण में काम में ली गई ईंटों जैसी ही थीं और इन अवशेषों का इन बौद्ध इमारतों के साथ इतना निकट का सादृश्य था कि आज भी उनका भेद बता पाना सरल नहीं होता। यह सब कुछ होते हुए भी श्री बेनर्जी ने अपनी प्रौढ़ कल्पना-बुद्धि द्वारा अनुमान किया और बिल्कुल सही अनुमान किया कि ये नीचे के स्तर के अवशेष अवश्य ही उन बौद्ध इमारतों से, जो कि उनसे केवल एक-दो फ़ीट ऊपर ही बनी थीं, लगभग दो-तीन हज़ार वर्ष पहले की रचनाओं के अवशेष थे! यह कोई मामूली सफलता का कार्य न था।"
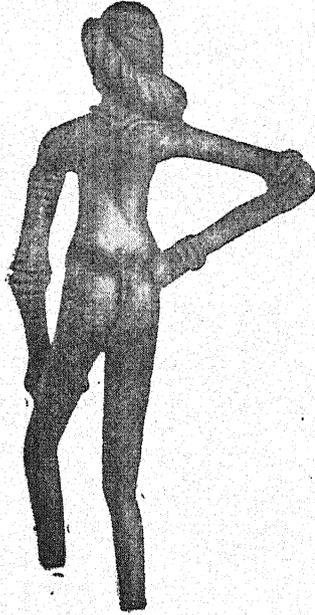
मोहेंजोदड़ो से प्राप्त काँसे की नर्त्तकी की मूर्त्ति

श्री बेनर्जी की इस आरंभिक खोज के बाद तो सर्व श्री मार्शल, दीक्षित, साहनी, वत्स, हारग्रीव्ज़ और मेके आदि द्वारा मोहेंजोदड़ो के इस मुक़ाम की खूब विस्तार के साथ खुदाई का काम सम्पन्न किया गया और फलतः खानगी व आम मकानों और भवनों, सड़कों और गलियों, मोरियों और परनालों तथा स्नानागारों और जलाशयों से युक्त एक सारा नगर खण्डहरों के रूप में पृथ्वी के गर्भ में से निकल आया। साथ ही उपर उल्लिखित जैसी हज़ारों मिट्टी की मुद्राएँ, खिलौने, मूर्त्तियाँ, छोटे-छोटे गहने, मिट्टी के पात्र, पत्थर के बटखरे, सामान भरने के नाँद, मनके और आभूषण आदि भी काफ़ी तादाद में खुदाई में निकले और अब भी लगभग नित्य ही कुछ न कुछ मिलता ही रहता है। इस सामग्री में मिट्टी की मुद्राएँ, जो इस मुक़ाम पर चारों ओर प्रचुर मात्रा में मिली हैं, बहुत उम्दा ढंग की हैं और उनके उपर एकशृंग, वृषभ, गैंडे, हाथी, शेर, मगर आदि-आदि पशुओं की आकृतियों के साथ-साथ एक 'अज्ञेय' चित्र-लिपि में कुछ न कुछ आलिखित है। ठीक इन्हीं में की कुछ मुद्राएँ सुदूर मेसोपटामिया (इराक़) और इलाम में भी मिली हैं, जो कि निर्विवाद रूप से प्राक्-सार्गोनिक युग की मानी जाती हैं। स्वयं सर जान मार्शल लिखते हैं कि "उर और किश से प्राप्त ऐसी ही दो मुद्राओं के नमूनों से यह ठीक ही निर्णय किया गया है कि सिंधु-काँठे की यह सभ्यता कम से कम २८०० ईस्वी पूर्व से पहले की होनी चाहिए।" ताँबे और काँसे के हथियार-औज़ार भी मोहेंजोदड़ो में पाए गए हैं। स्पष्टतया ये सब बातें इस बात की द्योतक हैं कि इस सिंधु-सभ्यता के निर्माताओं के पीछे एक और भी प्राचीन इतिहास-परम्परा रही होगी।

इन भारतीय पुरातत्त्वावशेषों के सुमेरियन सादृश्य पर प्रो॰ साइस, गेड और स्मिथ ने काफ़ी ज़ोर दिया है। मार्शल का मत है कि वैदिक और सिंधु-सभ्यताओं में कोई संबंध नहीं था। वस्तुतः यह बताना बड़ा मुश्किल है कि सिंधु-सभ्यता के ये लोग सचमुच कौन लोग थे। कई विद्वानों के अनुसार सिंधु-सभ्यता का विकास करनेवाले लोग दरअसल कौन थे यह विवादग्रस्त विषय है। सबसे अधिक बुद्धिसंगत मत यही प्रतीत होता है कि वे लोग भारतवर्ष के आर्य्यों से पहले के निवासी (संभवतः द्रविड़ लोग) थे, जिनका वेदों में "दस्यु", "असुर", या "पणि" आदि नामों द्वारा उल्लेख मिलता है, और जिनकी सभ्यता लगभग दो या तीन हज़ार ईस्वी पूर्व उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारी आर्य्यों के ज्वार में विनष्ट हो गई थी।

कला की दृष्टि से बहुतेरी सुन्दर मुद्राओं और मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त मोहेंजोदड़ों से प्राप्त सामग्री में सब से उल्लेखनीय सेलखरी की बनी हुई संभवतः एक योगी की मूर्त्ति (दे॰ पृ॰ २७०७ का चित्र) और काँसे की

एक नर्त्तकी की छोटी-सी मूर्त्ति है (दे० पृ० २७०६ का चित्र)। रचना-कौशल और भाव-प्रदर्शन के लिहाज़ से ये दोनों कलाकृतियाँ मोहेंजोदड़ो में देवी माता तथा पगड़ीधारी बौने कीचकों की हज़ारों की तादाद में पाई गई अन्य मृण्मय-मूर्त्तियों से कहीं बढ़ी-चढ़ी हैं।

मोहेंजोदड़ो ही की तरह हड़प्पा से प्राप्त सामग्री भी, जिसकी खुदाई का काम श्री दयाराम साहनी ने कराया था, अति मनोरञ्जक है। इन दोनों स्थानों की संस्कृतियों में, जैसा कि उनकी खुदाई में निकले हुए मकानों, पानी बहने की मोरियों और परनालों, ईंटों, मिट्टी के पात्रों, अस्त्र-शस्त्रों, घरेलू काम की वस्तुओं, गहनों-आभूषणों और मुद्राओं से प्रकट होता है, इतनी अधिक परिपूर्ण समानता है कि यह बिना किसी हिचकिचाहट के माना जा सकता है कि इन दोनों ही नगरों का जीवन एक-जैसी संस्कृति से परिप्लावित था और उनमें निरन्तर पारस्परिक संसर्ग प्रस्थापित था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हड़प्पा के खँडहर आज से बहुत पहले ही सन् १८५३ ई० में जनरल कनिंघम द्वारा देखे जा चुके थे, परन्तु पुरातत्त्व की दृष्टि से एक मूल्यवान् स्थल के रूप में उसका महत्त्व बहुत दिनों तक किसी ने भी नहीं समझा। इसका नतीजा यह हुआ कि कनिंघम द्वारा उल्लिखित वहाँ की बहुतेरी इमारतों की दीवारों की ईंटें लाहौर-मुलतान रेलवे की १०० मील लम्बी सड़क की गिट्टी की पूर्त्ति करने के हेतु ढहा दी गई और पास-पड़ोस के गाँववाले तो अपने मकान बनाने के लिए हड़प्पा की इमारतों की इन पक्की ईंटों को न जाने किस ज़माने से लगातार काम में लेते आ रहे थे। खैर, जो कुछ भी सामग्री वहाँ अवशिष्ट है उसके स्तरों की विधिवत् अनुसंधान द्वारा की गई जाँच के उपरान्त यह मत निश्चित किया गया है कि यहाँ की प्राचीनतम रचनाओं की तिथि ३२५० ई० पू० तक पुरानी मानी जा सकती है। श्री दयाराम साहनी के तत्त्वावधान में की गई खुदाई और शोध के बाद श्री माधोस्वरूप वत्स द्वारा और अधिक खोज इस स्थान की की गई और फलतः मोहेंजोदड़ो के मकानों से बिल्कुल मिलते-जुलते पक्की ईंटों से बनाए गए कई मकान यहाँ भी निकले, जिनमें बाक़ायदा पक्की फ़र्शें, सीढ़ीदार ज़ीने, पानी बहने के लिए मोरियाँ और नालियाँ, कूड़ा-कर्कट फेंकने की नाँदें, गन्दा पानी जमा करने के हौज़, कुएँ और अनाज भरने की खत्तियाँ आदि निर्मित हैं। इन इमारतों के खँडहरों के अलावा मोहेंजोदड़ो जैसी ढेरों मुद्रा और मुद्रिकाएँ, मिट्टी की मूर्त्तियाँ, स्फटिक मणियों से गुँथी हुई मालाएँ, गोमेदक, सूर्यकान्तमणि, वैदूर्य आदि रत्नों से जटित सोने के आभूषण, ताँबे और काँसे के बर्त्तन, औज़ार-हथियार, खिलौने, हाथीदाँत की चीज़ें, पत्थर की पटरियों पर खुदे आलेख, मिट्टी, पाषाण और ग्लेज़ की हुई मृत्तिका द्वारा बनाई गई न जाने कितनी पशु-आकृतियाँ आदि चीज़ें यहाँ की खुदाई में निकली हैं, जिनमें कोई-कोई तो बहुत ही कलापूर्ण हैं। परन्तु इस सारी सामग्री में सौंदर्य्य की दृष्टि से जिन्हें सिरताज़ कहा जा सकता है, वे हैं क्रमशः धूसरवर्ण तथा लाल पत्थर की वे दो शीशविहीन खण्डित मानव-मूर्त्तियाँ, जिन्हें खोजने का श्रेय क्रमशः श्रीदयाराम साहनी और श्री माधोस्वरूप वत्स को प्राप्त है। इन प्रतिमाओं की श्रेष्ठ कला की तुलना में रक्खी जाने योग्य एक भी वस्तु हमें मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सामग्री में नहीं मिलती—ये उन ढेरों आदिदेवियों की बर्बरसम भौंडी मूर्त्तियों के झुंड के बीच उसी प्रकार से अलग से अपनी शोभा निखराए उन्नतमस्तक खड़ी हैं, जैसे कि बत्तखों के झुंड के बीच हंसों का एक जोड़ा खड़ा हो! विशेषकर नर्त्तक की उस शीर्षहीन प्रतिमा के ललित और सुकुमार शिल्प-गढ़न को देखकर तो इतना अधिक आश्चर्यचकित हमें रह जाना पड़ता है कि हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सचमुच ही यह कलाकृति एक ऐसे पुरातन युग की है, जब

हड़प्पा से प्राप्त लाल बलुए पत्थर की शीर्षहीन अद्भुत खंडित मूर्त्ति (फ़ो० भा० पु० वि०)

कि ग्रीक कला का जन्म भी नहीं हुआ था ! उसको देखते हुए विद्वानों के मन में ऐसी तक धारणाएँ उठी हैं कि हो न हो प्रकृति के यथार्थ प्रत्याङ्कन की कला में इस भारतीय निपुणता के प्रभाव ने सुमेर की कला पर अपना रंग जमाया हो और उसी के मार्फ़त आगे चलकर यूनानी कला पर भी अपनी छाप डाली हो! स्वयं सर जॉन मार्शल इन दोनों मूर्त्तियों की कला-विशिष्टताओं का विवेचन करते हुए लिखते हैं—"इन दो मूर्त्तियों में जो बात हमें सब से अधिक चकरा देनेवाली है वह है उन में प्रत्याङ्कित शरीर-गठन की यथार्थता का आश्चर्यजनक तथ्य, जो कि हमारे मन में बरबस ही यह विस्मययुक्त विचार पैदा कर देता है कि क्या सचमुच ही ग्रीक मूर्त्तिकला की इस सबसे बड़ी खूबी का अत्यन्त प्राचीन काल के उन सिंधु-तटवासी शिल्पियों ने मानों पूर्वाभास पाकर उसमें मौलिक दक्षता प्राप्त कर ली थी ? यह हम सुदृढ़ रूप से जानते हैं कि सिंधु-तट का शिल्पी पशुओं की आकृतियों के निदर्शन में उस पुरातन युग ही में ग्रीक कला की-सी छटा दिखाने का सामर्थ्य रखता था, और जहाँ तक आकृतियों के सर्वाङ्गीण निरूपण एवं शरीर-गठन की विशेषताओं के सूक्ष्म प्रत्याङ्कन संबंधी प्रौढ़ता का सवाल है, हम इन दोनों कलाओं में एक विशेष आत्मीयता का संबंध पाते हैं।"

धूसरवर्ण पाषाण द्वारा बनाई गई हड़प्पा से प्राप्त अन्य एक खंडित कलापूर्ण नर्त्तक-मूर्त्ति ( फ़ो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' )

यद्यपि उपरोक्त मूर्त्ति की रूपरेखा अत्यन्त सुकुमार और स्त्रैणभावयुक्त है, तथापि सर जान मार्शल के मतानुसार वह एक पुरुष-प्रतिमा है। उनकी यह भी धारणा है कि उसकी गर्दन की असाधारण मोटाई को देखते हुए उस नर्त्तक-प्रतिमा में या तो तीन सिर या तीन चेहरे रहे होंगे और उनका अनुमान है कि वह संभवतः शिव नटेश की ही युवा-मूर्त्ति है! जो कुछ भी हो, इस युग के भास्कर्य में इस मूर्त्ति की बराबरी करनेवाली दूसरी कोई कलाकृति नहीं है। यह और इसके साथ की लाल पत्थर की वह दूसरी मूर्त्ति, जिसका वर्णन इसके बाद हम करने जा रहे हैं, मोहेंजोदड़ो में पाई गई भद्दी मानवमूर्त्तियों से इतनी श्रेष्ठतर हैं कि उनसे इनकी कोई तुलना ही नहीं।

श्री वत्स द्वारा हड़प्पा की खुदाई के तीसरे स्तर में पाई गई लाल पत्थर की वह मूर्त्ति जिसका हवाला हम ऊपर दे चुके हैं, इस प्रागैतिहासिक स्थान के भूगर्भ में से प्राप्त दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कलाकृति है। यह लाल बलुआ पत्थर में कोरी गई एक पुरुष की नग्न प्रतिमा का शीर्ष-विहीन खण्डित भाग है। यों तो उसकी प्राप्ति के स्थान मात्र के हवाले से हमारे मन में इस मूर्त्ति की प्रागैतिहासिकता के संबंध में कोई शंका नहीं रह जाती, परन्तु इस पर भी यदि कोई शंका करे तो तुरन्त ही उसका समाधान हो जाता है जब कि हम उसके पदार्थ, शैली और कारीगरी पर ध्यान देते हैं। जिस लाल बलुआ पत्थर से यह मूर्त्ति बनाई गई है वह पूर्वोक्त नर्त्तक-मूर्त्ति के धूसरवर्ण पाषाण की भाँति सिंधु-सभ्यता के उस पुरातन युग में हड़प्पा में ( जहाँ किसी प्रकार का स्थानीय पत्थर उपलब्ध नहीं है ) कई और छोटी-बड़ी चीज़ों को बनाने में बाहर से प्रचुर

मात्रा में मँगवा कर काम में लाया जाता रहा। ये दोनों पत्थर बाद के ऐतिहासिक युग में मूर्त्ति के काम में लाए जाते नहीं पाए गए। इसी बात पर ज़ोर देते हुए सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि "पंजाब और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रांत में पाई गई ढेरों भारतीय-यूनानी मूर्त्तियों में एक भी ऐसी नहीं है जो इन दोनों प्रकार के पत्थरों में से किसी से बनाई गई हो!"
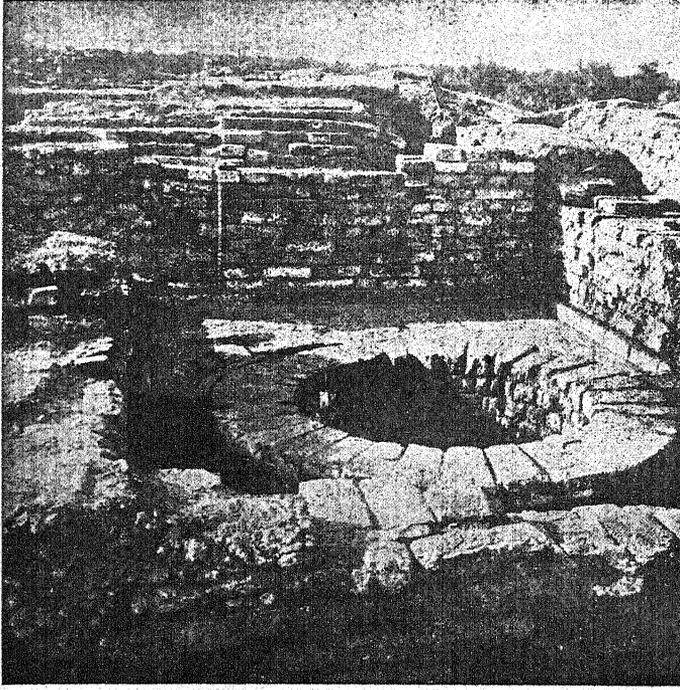
मोहेंजोदड़ो की खुदाई में निकला एक पक्का कुवा
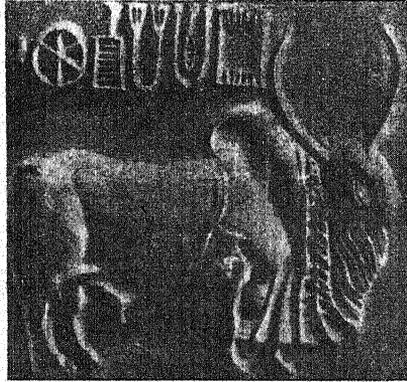
मोहेंजोदड़ो से प्राप्त मुद्राओं के नमूने ( फ़ो० —'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' )

इस मूर्त्ति में सामने का भाग प्रत्याङ्कित है, अतएव देखने में यों वह बहुत सरल है। परन्तु उसका सारा सौंदर्य उसमें निदर्शित शरीर के मांसल भागों के उस सुरुचिपूर्ण और यथार्थ गढ़न में है, जिसे देख आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इस सिलसिले में उसके कमर के हिस्से में रीढ़ के तले दोनों ओर दिग्दर्शित दो यथार्थ गड्ढों तथा सूक्ष्मतापूर्वक चपटे कर दिए गए उसके नितंब भाग पर ज़रा ध्यान दीजिए। देह की सुघड़ गठन के यथार्थ प्रत्याङ्कन का यह एक सर्वाङ्ग-संपूर्ण नमूना कहा जा सकता है और यूनानी कला के श्रेष्ठतम उदाहरण की तुलना में रक्खा जा सकता है। इस मूर्त्ति में अंकित आकृति की मुद्रा, विशेषकर उसका बाहर की ओर निकला हुआ उदर, स्पष्टतया एक भारतीय लाक्षणिकविशेषता है। इन दोनों मूर्त्तियों के खोज के स्थान, जिससे वे निर्मित हुई हैं वह पत्थर, एवं उनकी रचना-शैली आदि इस बात की निर्विवाद रूप से गवाही देते हैं कि वे प्रागैतिहासिक युग की हैं।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के बाद पुनः ऐतिहासिक युग के साथ अपना क्रम जोड़ने के लिए लगभग २००० वर्ष की एक खाई लाँघना आवश्यक है। अतः अगले प्रकरण में हम ई० पू० ६४२ से आरंभ कर शैशुनाग, नंद, मौर्य्य और शुंग युगों की कला पर लिखेंगे।

# संस्कृत-वाङ्मय—८

## मध्य-काल

संस्कृत-काव्य का मध्य-काल लगभग ७०० ईस्वी के बाद आरम्भ होकर १२०० ईस्वी में समाप्त होता है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम इस काल को 'पूर्व' और 'उत्तर' दो युगों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें पूर्व-काल प्रायः ७०० ई० से ६५० ई० तक और उत्तर-काल लगभग ६५० ई० से १२०० ई० या उसके बाद तक है। यह युग-विभाग केवल कृत्रिम है और अध्ययन की सुविधा मात्र के लिए यह विभाजन किया गया है, इसे न भूलना चाहिए। इसी कारण इन युगों की जो तिथि-रेखाएँ खींची गई हैं, उन्हें नितान्त अनुलंघनीय भी नहीं समझना चाहिए। ऐतिहासिक निरूपण में आवश्यकता और उपादेयता के अनुसार वे घटती-बढ़ती रहेंगी।

### १. पूर्व-काल

पूर्व-काल में काव्य अर्थात् महाकाव्य की परम्परा कुछ टूट-सी गई। उत्तर-काल में उसका एक प्रकार से पुनरुद्धार-सा हुआ। तत्कालीन साहित्य की पर्यालोचना करते समय हम उसकी चर्चा करेंगे। पूर्व-काल में साहित्य-क्षेत्र से, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, महाकाव्य अथवा गेय काव्य (Lyric) उठ-सा गया। उसके स्थान में हम 'शतकों' की प्रतिष्ठा पाते हैं। शतकों में एक सौ अथवा उससे कुछ ऊँची-नीची संख्या में श्लोक मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मौलिक रूप में शतक में सौ श्लोक ही रहे होंगे और पश्चात्काल में उनकी संख्या बढ़ा दी गई होगी। इन शतकों की संख्याओं का घटना-बढ़ना काव्यों की अपेक्षा सरल था, क्योंकि इनमें 'वस्तु' अथवा 'प्रबन्ध' जैसी तो कोई चीज़ थी नहीं, जिसे पूर्व और पर के मिलान से सम्हाला जा सकता। इस कारण प्रक्षेपकों के लिए सुविधा हो गई। प्रक्षिप्त श्लोकों की गुंजायश जब काव्यों और प्रबन्धपरक अन्य ग्रन्थों में हो गई है तो असम्बद्ध स्वतःपूरित शतक-श्लोकों के बीच उनका खप जाना तो साधारण-सी बात थी! अस्तु।

### भर्तृहरि

यह पूर्व-काल वस्तुतः शतक-युग है और इसमें दो विशिष्ट शतककार हुए हैं। इनमें से एक तो है भर्तृहरि और दूसरा अमरु। भर्तृहरि का संबंध तीन शतकों से है, जिनके नाम हैं (१) नीति-शतक, (२) श्रृंगार-शतक, और (३) वैराग्य-शतक। ये तीनों एक ही व्यक्ति के हैं इसमें सन्देह हो सकता है और कतिपय विद्वानों ने सन्देह किया भी है, परन्तु प्राचीन अनुश्रुति और साहित्य-जिज्ञासु दोनों ने इन तीनों शतकों को भर्तृहरि की ही रचना मानी है। साथ ही भाषा और वर्णन-संबंधी जिन आँकड़ों से कृति-विशेष व्यक्ति-विशेष की रचना मानी जाती है, उनके प्रयोग से भी उन तीनों शतकों का कर्त्ता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। ध्वनि, रस, रुचि-वैचित्र्य, शब्द-कौशल आदि सब एक ही व्यक्ति-विशेष के लगते हैं। इससे तीनों को भर्तृहरि की कृतियाँ मानना ही उचित है।

भर्तृहरि कौन थे, यह कहना भी कठिन है। संस्कृत कवियों और ग्रन्थकारों में जो निरीहता रही है, उसके कारण उन्होंने अपनी कृतियों में किंचित् ही अपने विषय में कुछ कहा है। वास्तव में अपने को वे काल की गणना से विमुक्त कर काल और देश दोनों को लाँघ गए। भर्तृहरि उन्हीं काल का अतिक्रमण कर गए कवियों में से एक हैं। किंवदन्तियाँ उन्हें प्रख्यात राजा विक्रम का भाई और स्वयं एक राजा कहती हैं। परन्तु उनमें कहाँ तक ऐतिहासिक सत्यता है, यह कहना इस समय असंभव है। उनके समय और व्यक्तित्व पर आठवीं सदी ईस्वी के आरम्भ में भारत-भ्रमण करनेवाले चीनी यात्री ईत्सिंग ने कुछ प्रकाश डाला है। ईत्सिंग ने नालन्द के बौद्ध महाविहार और विश्वविद्यालय में सालों रहकर बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया था। उसने भारत-संबंधी अपने ग्रन्थ में नालन्द में पढ़ाए जानेवाले पाठ्यक्रम का उल्लेख किया है। उससे एक ओर तो जान पड़ता है

कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि दोनों एक ही व्यक्ति थे। दूसरी ओर उनके व्याकरण-ग्रन्थ के भी नाम मिल जाते हैं। ईत्सिंग ने लिखा है कि उसके नालन्द-निवास के चालीस वर्ष पूर्व भारत का भर्तृहरि नाम का एक अत्यन्त कुशल वैयाकरण मरा था। निस्सन्देह ईत्सिंग का संकेत शतककार वैयाकरण भर्तृहरि के प्रति ही था, जिसके व्याकरण-ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' को देखने का उसे अवसर मिला था। यह 'वाक्यपदीय' प्राचीन भारतीय व्याकरण-परम्परा का अन्तिम रत्न था। ईत्सिंग के कथनानुसार इस भर्तृहरि का उसके समय से चालीस वर्ष पूर्व देहान्त हुआ था। इस प्रकार भर्तृहरि का देहावसान ६५० ई० के लगभग हुआ जान पड़ता है। इस चीनी यात्री के लेख से यह भी विदित है कि भर्तृहरि बौद्ध थे और बौद्ध संप्रदाय द्वारा समर्थित प्रथा के अनुसार सात बार संसार का त्याग और सात बार गार्हस्थ्य का ग्रहण कर चुके थे। इसमें उस भारतीय किंवदन्ती का भी कुछ आभास मिलता है, जिसके अनुसार भर्तृहरि ने अपनी रानी के असंयत चित्त और विलास के कारण वैराग्य ग्रहण कर लिया था। इसकी पुष्टि में भर्तृहरि के नीति-शतक का निम्न श्लोक उद्धृत किया जाता है—

**यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता**
**साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।**
**अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या**
**धिक् तं च मदनं च इमां च मां च॥**

ईत्सिंग ने जिस कहानी का सहारा लिया है, उसके अनुसार एक बार भर्तृहरि ने जब विहार में पदार्पण किया तब उसमें प्रवेश करते ही उसने एक छात्र को रथ जोतकर द्वार पर खड़ा रखने का आदेश किया, जिसमें सांसारिक भोग की कामना बलवती हो उठने पर वह शीघ्र प्रासाद को लौट सके। ईत्सिंग ने ऐसे एक श्लोक का भी उद्धरण दिया है, जिसमें भर्तृहरि ने अपने दुर्बल चित्त और द्विधा जीवन की निन्दा की है। एक बात यहाँ यह भी विचारणीय है कि शतकों का भर्तृहरि 'वेदान्त-शैव' है, बौद्ध नहीं, जैसा उसके अनेक श्लोकों से विदित होता है। एक में तो उसने देवता केवल 'केशव' या 'शिव' को ही माना है—'**एको देवः केशवो वा शिवो वा।**' यदि भर्तृहरि बौद्ध होता तो कम से कम इन देवों में से एक को तो बुद्ध रखता! वैराग्य का देव उसने यहाँ बुद्ध को न मानकर शिव को माना है। इससे भर्तृहरि को बौद्ध नहीं माना जा सकता। फिर उत्तर भारत, विशेषकर पूर्वीय संयुक्त-प्रान्त और बिहार, में जो एक विशेष प्रकार के वैरागी गा-गाकर भिक्षाटन करते हैं, वे अपने को 'भरथरी-संप्रदाय' के बताते हैं और अपने भजनों को भी वे 'भरथरी' कहते हैं। संभवतः शैव-वैरागियों का यह संप्रदाय भर्तृहरि द्वारा ही प्रवर्तित हुआ है।

इस सिद्धान्त को मानने में विशेष कठिनाई नहीं होगी कि भर्तृहरि का संबंध कभी किसी राजसभा से था, या शायद वे स्वयं एक छोटे-मोटे राजा थे और युवावस्था में शैव होते हुए भी वृद्धावस्था में बौद्ध हो गए। तभी नालन्द के बौद्ध महाविहार में उनके ग्रन्थों का अध्यापन और स्वयं उनका स्तवन संभव हो सका होगा। जिस श्लोक का एकांश ऊपर उद्धृत किया गया है, उसके अन्य अंशों से ज्ञात होता है कि यौवन में विलास की ओर उनकी प्रवृत्ति थी। यथार्थतः वह श्लोक युवावस्था का ही प्रतीत होता है, क्योंकि कवि उसमें 'भूपति' की मित्रता, 'पत्तन' के वास, और 'सुंदरी' नारी की अब भी विकल्प से इच्छा करता है—

**एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा**
**एको वासः पत्तनेवा वने वा**
**एका नारी सुंदरीवा दरी वा॥**

श्री पाठक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वैयाकरण भर्तृहरि बौद्ध था और ईत्सिंग का प्रासंगिक वर्णन भी इस बात की पुष्टि करता है। उसके ग्रन्थों का नालन्द के बौद्ध विश्वविद्यालय में पाया जाना इसे और सिद्ध कर देता है। संभव है, शतकों के ब्राह्मण-धर्मपरक होने से ईत्सिंग ने उनका स्पष्ट उल्लेख न किया हो। ईत्सिंग कम से कम इतना तो अवश्य लिखता है कि भर्तृहरि वैयाकरण होने के अतिरिक्त मानव-जीवन-संबंधी सिद्धान्तों का भी रचयिता था। 'मानव-जीवन-संबंधी सिद्धान्त' या विचार क्या नीतिपरक नहीं हो सकते? संभवतः ये मानव-जीवन संबंधी विचार नीति, शृंगार और वैराग्य-शतकों में ही निरूपित थे। पर बौद्ध संप्रदाय-विरोधी होने के कारण उनका स्पष्टतः उल्लेख ईत्सिंग न कर सका। अधिक संभव यह है कि शतकों की रचना व्याकरण की रचना अथवा बौद्ध दीक्षा के पूर्व ही भर्तृहरि ने की होगी। इसी कारण उनके प्रति केवल संकेतमात्र ईत्सिंग कर सका।

कुछ आश्चर्य नहीं कि भर्तृहरि के शतकों के सारे श्लोक उस कवि के न हों, बल्कि उनमें से कुछ औरों के भी हों। संकलन में इस प्रकार का प्रयास संभव है। 'नीति' और 'वैराग्य' शतकों में इस प्रकार की संभावना अधिक

थी, क्योंकि इसी तरह पंचतंत्र का भी तो किसी न किसी रूप में निर्माण हो चुका था। फिर इस नीतिपरक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य नीति-सुभाषित ग्रंथ भी उपलब्ध थे और वैराग्य के संबंध में तो अनेक ब्राह्मण-बौद्ध गाथाएँ प्रसिद्ध और प्रचलित थीं। शृंगारशतक में अवश्य इस प्रकार के प्रक्षेपकों की संभावना कम दीख पड़ती है, क्योंकि उसमें आए श्लोकों की शब्द-योजना और शैली प्रायः एक हाथ द्वारा ही प्रणीत प्रतीत होती है। इसमें भी यद्यपि संकलन की संभावना सर्वथा असंभावित नहीं समझी जा सकती तथापि कई कारणों से हम इसे एक व्यक्ति की कृति मान सकते हैं। इतना स्मरण रखना फिर भी आवश्यक है कि इसमें भी श्लोक जोड़े जा सके होंगे, यद्यपि उनकी संख्या प्रचुर न रही हो। शृंगारशतक के प्रारंभिक श्लोक प्रणय और नारी-सौन्दर्य संबंधी हैं। उसके बाद दृश्य बदल जाता है और प्रणय की ऋतुपरक स्थितियों और विलासानन्द से हम नीति और तप से प्रादुर्भूत सुख की ओर झुकते हैं। इस दृश्य में जिन श्लोकों का ग्रन्थन है वे बुद्धिपरक हैं। तदनन्तर का प्रसंग वैराग्य के छोरों को छू लेता है। कवि को नारी का सौन्दर्य विष-सा लगता है और विलास मानव को पार्थिव पाश में जकड़नेवाला साधन-सा प्रतीत होता है। मानव श्रम का सुखद अन्त कवि की इस अन्तिम चेष्टा में वैराग्य और शिव तथा ब्रह्मा के स्तवन में ही है। कवि की मेधा इसे अद्भुत काव्यक्षमता से घोषित करती है।

भर्तृहरि की भाषा परिमार्जित और शैली नितान्त सरल है। यद्यपि कहीं-कहीं पद समस्त हो जाते हैं परन्तु फिर भी कवि की कृतियों में अटूट प्रवाह है। भावों को संक्षिप्त करने की उसमें अद्भुत क्षमता है। रत्नों की भाँति उसके श्लोक स्वतः पूर्ण होते हुए भी एक अटूट शृंखला का सृजन करते हैं। श्लोकों में पाण्डित्य, माधुर्य, तर्क, शक्ति सब कुछ मिल जाते हैं और काव्यपरक सौंदर्य की भी उसमें कमी नहीं। भट्टि-काव्य के रचयिता कविवर भट्टि को ही कविगुण से विभूषित होने के कारण जो विद्वान् भर्तृहरि मानते हैं वे अवश्य इस बात को भूलते हैं कि दोनों में काव्यशक्ति प्रचुर होने पर भी दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हैं और उनमें पर्याप्त अंतर है। दोनों दो विभिन्न व्यक्ति ही होने चाहिएँ। एक व्यक्ति होने का संदेह अधिकतर इस कारण भी हो जाता है कि दोनों ही कवि होने के अतिरिक्त वैयाकरण हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि भट्टि के काव्य का माधुर्य भर्तृहरि के श्लोकों में मिल जाता है, यद्यपि वे प्रबन्ध-काव्य में नहीं पिरोए गए हैं। नीति, शृंगार, करुणा, वैराग्य, जिस-जिस प्रसंग में भर्तृहरि ने श्लोक कहे हैं ये श्लोक उस-उस प्रसंग को पूर्णतया चरितार्थ करते हैं। साफ़-सुथरी भाषा में, स्वच्छ अकृत्रिम शैली में, स्पष्टता और शक्तिपूर्वक भाव हमारे सामने आते हैं। संस्कृत भाषा का वह गुण जिसे 'संश्लिष्टि' कह सकते हैं, अत्यन्त प्रचुर मात्रा में भर्तृहरि में विद्यमान है। विश्लेषण से परस्पर दूर के भावों को एकत्र कर संश्लिष्ट पदावली में प्रस्तुत करना संस्कृत कवियों का ही काम रहा है, जिसमें भाषा ने उनकी विशेष सहायता की है। अधिक से अधिक दूरीभूत भावों को एकत्र कर संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने की इस शक्ति में भर्तृहरि निस्सन्देह बेजोड़ हैं। उसके श्लोकों का एक-एक पद एक-एक ग्रन्थि है, जिसके खुलने से भावों की शृंखलाएँ एक के बाद एक अनवरत निकल पड़ती हैं।

अब हम भर्तृहरि की काव्य-कृतियों के कुछ नमूने देखें। नीचे लिखे उदाहरण में कवि नर का आदर्श उपस्थित करता है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

मानव-जीवन के चार आश्रमों को कवि ने निम्न रूप से रखा है—

आयुर्वर्षशतं नृणां रात्रौ तदर्धं गतम्
तस्यार्धस्य परस्यचार्धमपरम्बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवेद्वारितरङ्गबुद्बुदसमे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥

मानव-जीवन के विविध स्तरों का एक ही श्लोक में भर्तृहरि ने अपूर्व वर्णन किया है। लम्बे वक्तव्य को इसमें अद्भुत क्षमता से संक्षिप्त कर दिया है—

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डित तनुः
नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्॥

मनुष्य के क्षणभंगुर जीवन का इससे अधिक विडंबनापूर्ण चित्र अन्य नहीं मिलता। एक ही श्लोक में कवि ने अनेक दृश्य बदले हैं, जिनका अन्त करुण और विषादयुक्त है। इसे पढ़कर किंचित् भय का संचार हो जाता है। नीचे के श्लोक में सुख-दुःख और अन्य द्वन्द्वात्मक सांसारिक विषयों का उल्लेख है:—

आक्रान्तम्मरणेन जन्म जरसा यात्युत्तमं यौवनम्
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः।

लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥

नीचे के श्लोक में कवि सर्वशक्तिमान् काल की स्तुति करता है। संसार के शक्ति-परिचायक रूप कितने क्षणिक हैं, काल की संहारक चोट से वे किस प्रकार देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं, यह अद्‌भुत वेग और शक्ति से कवि ने बताया है—

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्तेबन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

वर्णन अत्यन्त आकर्षक और नाट्यपूर्ण है। इसी प्रकार का एक अन्य वर्णन अद्‌भुत क्षमता का है, जिसमें उपालम्भ की मात्रा भय का संचार करती है। कवि नीति-वैपुल्य के भेरी-घोष से मानव को सावधान करता है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीम्प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

नीचे के श्लोक में कवि संन्यस्त सुख की अभिलाषा करता है—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य॥
किं तैर्भाव्यंम्मम सुदिवसैर्येषुते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जठरहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये॥

वैराग्य-शतक का एक सुन्दर श्लोक मानव-जीवन के अन्त पर परितोष लेता है। शरीर के विविध अवयवों के पंचत्व को प्राप्त होने में कवि परम सुख का अनुभव करता है। सुचरितों से आवागमन के बन्धनों को काट ब्रह्म में लय हो जाना उसका चरमानन्द है। प्रकृति के अवयवों के साथ मानव ने अपना अन्तिम बन्धुत्व और चिरसखित्व स्थापित किया है—

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे ज्योतिः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि॥

शृंगार-शतक के श्लोक प्रसाद, ध्वनि और माधुर्य में असाधारण हैं। हमें खेद है कि स्थानाभाववश उसके उद्धरण यहाँ प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं। भर्तृहरि ने अपनी रचनाओं में निम्नलिखित छन्दों का उपयोग किया है—शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, श्लोक, वसन्ततिलक, स्रग्धरा, आर्या, गीति, इन्द्रवज्रा, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, वंशस्था, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय, दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रासमक। इनमें से पहले पाँच छन्द मुख्य हैं और उनमें भी शार्दूल-विक्रीड़ित प्रमुख है।

भर्तृहरि का नाम संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त आदर से लिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि उन्होंने कोई महाकाव्य नहीं लिखा, परन्तु उनके तीनों शतक माधुर्य में एक ऊँचा स्थान रखते हैं। नीति और वैराग्य-शतकों के अतिरिक्त शृंगार-शतक तो विशेष औत्सुक्य से पढ़ा जाता है। यह कुछ कम महत्त्व की बात नहीं कि वैयाकरण होते हुए भी भर्तृहरि ने मधुर कविता की। इस विषय में कवि भट्टि उनका पूर्ववर्ती था।

### अमरु

शतककारों की शृंगारिक पदावली में अमरु का स्थान सब से ऊँचा है। 'अमरु-शतक' असाधारणतया लोकप्रिय हो गया है। अपने बाद की कविता पर जितना प्रभाव अमरु ने डाला है उतना अन्य कम व्यक्तियों ने डाला है। आज की प्रान्तीय भाषाओं का प्राचीन काव्य अधिकतर इसी कवि द्वारा प्रभावित है। हिन्दी के बिहारी आदि रीतिकाल के कवि और दोहाकार अमरु के विशेष प्रकार से ऋणी हैं। जैसे हिन्दी अथवा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के नीतिकार कवियों पर भर्तृहरि के नीति-शतक का प्रभाव है, वैसे ही हिन्दी के शृंगारी दोहाकार अथवा अन्य प्रान्तीय आरंभिक कवि अमरु-शतक का ऋण वहन कर रहे हैं। परन्तु भर्तृहरि की ही भाँति अमरु अथवा अमरुक के जीवन के आँकड़े भी नहीं मिलते। उसका काल निश्चित करना भी टेढ़ी खीर है। उसके प्राचीनतम टीकाकार अर्जुन वर्मा १२१५ ईस्वी में हुए थे। इससे अमरु इस काल से पूर्व के तो ठहर ही जाते हैं। इससे काफ़ी पहले आनन्दवर्धन ने भी अमरु-शतक का हवाला दिया है। और आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० के लगभग हमें ज्ञात है। इससे अमरु इस काल से भी पूर्व के सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार लगभग ८०० ईस्वी में होनेवाले विचक्षण काव्यजिज्ञासु वामन ने भी अमरु का नाम न देकर उसके शतक से तीन श्लोक उद्‌धृत किए हैं। इन प्रमाणों से अमरु-शतक का प्रणयन ७५० ईस्वी से पूर्व रखा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने अमरु को कालिदास के आस-पास और भर्तृहरि का पूर्ववर्ती माना है, पर ऐसा मानने में प्रमाण हमारे सहायक नहीं। भाषा, शैली, और शतक-

प्रणाली पर विचार करने से भी विदित होता है कि अमरु की परिणति ६५० ईस्वी से पहले अर्थात् भर्तृहरि से पूर्व की नहीं हो सकती।

अमरु-शतक के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती यह है कि शंकराचार्य ने काम के रहस्य को जानने के लिए योग द्वारा एक काश्मीरी राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया। फिर उस राजा के अन्तःपुर की सौ नारियों के साथ रमण करने से जिस-जिस रस और सुख का उन्हें अनुभव हुआ उन्हीं का निरूपण अमरु-शतक में है। निस्सन्देह इस किंवदन्ती पर विचार करने का कोई कारण नहीं हो सकता। यह भी कहा गया है कि अलंकार-पुस्तकों में दी गई नायिकाओं का इसमें नख-शिख वर्णन है। यह मत चौदहवीं सदी के शतक-टीकाकार वेमभूपाल का है। इसी प्रकार एक मत यह भी है कि यह नायिका-भेद का शतक है। वास्तव में इन दोनों विचारों में कोई यथार्थता नहीं। इसे तो शृंगार का ही एक शतक मानना चाहिए। इस और भर्तृहरि के शृंगार-शतक में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भर्तृहरि ने प्रणय और नारियों के जीवन का साधारण वर्णन किया है, उनका जीवन में स्थान बताया है, वहाँ अमरु ने जीवन की अन्य सारी अवस्थाओं को छोड़कर केवल प्रणयियों का पारस्परिक सम्बन्ध, विरह, मिलन, विषाद, आनन्द का ही शृंगारिक चित्रण किया है। अमरु के शतक में भर्तृहरि के शोच और अन्त्य वैराग्य का अभाव है। वह जीवन का रमणीय प्रभात है। उसका कवि जीवन के संध्यागम की कल्पना भी नहीं करता।

अमरु के दमकते प्रणय-राग पर फलाशंका की श्यामता नहीं चढ़ती। विवेकशून्य अल्हड़ प्रेम ही उस कवि के तुणीर का एकमात्र शर है। उसी से वह अपने असंख्य विविध घाव करता है। परन्तु उसके किए घावों से प्रणयी रोते नहीं, वरन् स्मित हास्य करते हैं। जीवन के गम्भीर रहस्य, उसकी जटिल आध्यात्मिकता, और उसके विडम्बनाभरे चक्र अमरु के सुमधुर तरल भावों को बोझिल नहीं करते। अमरु की शतक-शैली काव्य-कामिनी का अट्टहास है। इसमें प्रणय की प्रक्रियाएँ हैं, उसमें भी प्रणयी बिंधते है, उच्छ्वसित होते हैं, विरहानल में प्रज्वलित होते हैं, पर अन्त उनका मुस्कान में होता है।

अमरु के छन्दों में शार्दूलविक्रीड़ित की बहुलता है। वसन्ततिलक, हरिणी, स्रग्धरा और शिखरिणी का भी उस कवि ने प्रायः प्रयोग किया है, और जहाँ-तहाँ श्लोक, द्रुतविलम्बित, मालिनी, तथा मन्दाक्रान्ता भी मिल जाती हैं। प्रांजल भाषा में सुन्दर अभिव्यञ्जना और समर्थ शैली में रचा अमरु का यह शतक संस्कृत-साहित्य में एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

## २. उत्तर-काल

महाकाव्यों की परम्परा, जो मध्यभारत में टूट सी चली थी, काश्मीर में अब भी चलती रही। पूर्व-काल में, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अधिकतर शतक अथवा सुभाषितों की स्फुट कविताएँ लिखी गई, परन्तु उत्तर-काल में फिर एक बार हम काव्यों की ध्वनि सुनने लगते हैं। वैसे पूर्व-काल की काव्य-परम्परा बिलकुल टूटी नहीं और यदि हम काल-क्रम के अनिवार्य आँकड़ों से ही इतिहास का निर्माण करें तो उत्तर-काल के अनेक प्रारंभिक कवियों को पूर्व-काल में ही रखना होगा। उत्तर-काल के काव्यों में से अधिकतर उपलब्ध हैं, या कम-से-कम अन्य ग्रन्थों में उनके उदाहरण मिल जाते हैं। एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि उत्तरकालीन काव्यकारों में अधिकतर काश्मीर के थे। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से कोई वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, माघ आदि के समकक्ष नहीं खड़ा हो सकता, फिर भी उनका उल्लेख अनिवार्य है, क्योंकि इस काल के अच्छे-बुरे काव्य-क्षेत्र के अग्रणी वही हैं। पहले उत्तर-काल के कवियों में से उनका वर्णन अनिवार्य है, जो समय के विचार से तो पूर्व-काल के हैं, परन्तु सन्धि-काल पर खड़े होने के कारण उत्तरकालीन कवि-शृंखला की आरंभिक कड़ियों जैसे हैं।

### मेण्ठ

इन उत्तरकालीन कवियों में मेण्ठ अथवा भर्तृमेण्ठ सबसे प्राचीन था। उसकी प्रशंसा कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में की है। मेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नाम का एक काव्य लिखा था। उस समय काश्मीर का राजा मातृगुप्त था। कल्हण लिखता है कि राजा मातृगुप्त, जो स्वयं कवि था, हयग्रीववध से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने मेण्ठ को पारितोषिक में काव्य-ग्रन्थ को रखने के लिए एक स्वर्ण की थाली दी, जिससे उसकी सुरभि निकल न जाय। परन्तु मेण्ठ राजा की प्रशंसा से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने थाली स्वीकार न की। उसने मातृगुप्त की प्रसन्नता सौवर्ण थाली से कहीं अधिक मूल्यवान् समझी। कल्हण ने मातृगुप्त को प्रवरसेन का पूर्ववर्ती कहा है। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश मातृगुप्त को कालिदास माना है, परन्तु निस्सन्देह इस सिद्धान्त में कोई तथ्य नहीं है। मातृगुप्त के काल का ठीक-ठीक तो पता नहीं चलता,

परन्तु उसने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी यह सही है। इस टीका के कुछ उद्धरण मिलते हैं। स्वयं कल्हण ने मातृगुप्त के दो श्लोक उद्धृत किए हैं। अनुश्रुति के अनुसार मेण्ठ का स्थान पर्याप्त ऊँचा है। एक गणना में मेण्ठ का नाम वाल्मीकि के साथ आता है और दूसरी में सुबन्धु आदि के साथ। काश्मीर की गद्दी पर मातृगुप्त का उत्तराधिकारी प्रवरसेन बैठा और चूँकि मेण्ठ मातृगुप्त का समसामयिक था, अतः हम शायद उसे ईसा की छठी सदी के उत्तरार्ध में रख सकते हैं। इस प्रकार मेण्ठ सेतुबन्धकार का समकालीन सिद्ध होता है! परन्तु इस तिथि को भी सर्वथा सही मानने में आपत्ति हो सकती है, मेण्ठ के कुछ उद्धरण सुभाषितों में मिलते हैं।

### भौमक

मेण्ठ के कुछ ही समय बाद भौमक नामक काश्मीरी कवि ने 'रावणार्जुनीय' नाम से एक महाकाव्य लिखा। इसे उलटकर 'आर्जुनरावणीय' भी कहते हैं। इस काव्य का उद्देश्य भी भट्टिकाव्य की भाँति व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करना है। इस काव्य का प्रबन्ध रामायण से लिया गया है। रामायण के उस प्रसंग का, जिसमें कार्त्तवीर्यार्जुन द्वारा रावण-बन्धन का वर्णन है इसमें रोचकतापूर्वक अंकन हुआ है। रावण और अर्जुन कार्त्तवीर्य के युद्ध अथवा पारस्परिक संबन्ध का निरूपण इसके २७ सर्गों में हुआ है। संस्कृत के कुछ ही काव्य इतने सर्गों में संपन्न हुए। भौमक को भीम, भूम अथवा भूमक भी कहते हैं।

### हलायुध

लगभग इसी काल में अथवा इसके कुछ बाद दक्षिण में एक हलायुध नाम का कवि हुआ था। था तो वह भी वैयाकरण, पर उसने भी काव्य के बहाने व्याकरण लिखने की प्रथा का अनुसरण किया है। हलायुध के काव्य का शीर्षक है 'कविरहस्य'। इसमें राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण (तृतीय) की प्रशस्ति दी हुई है। परन्तु प्रथमतः इस काव्य का उद्देश्य धातुओं के वर्त्तमान काल की बनावट का उदाहरण देना ही है। कृष्ण तृतीय का शासन-काल लगभग ९४० ईस्वी से ९५६ ईस्वी तक है। इसलिए हलायुध भी इसी काल में हुआ होगा।

### शिवस्वामी

इस काल के कुछ पूर्व ही संभवतः नवीं सदी के अन्त में काश्मीरी बौद्ध कवि शिवस्वामी ने 'कप्फणाभ्युदय' नामक एक बौद्ध महाकाव्य लिखा। काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासनकाल में ही यह काव्य लिखा जा चुका था। अवदानशतक में एक कथा है, जिसमें एक दाक्षिणात्य राजा का श्रावस्ति-नृपति के प्रति विरोध प्रदर्शित है। बाद में उसकी बौद्ध धर्म में दीक्षा हो जाती है। कप्फणाभ्युदय का प्रबन्ध इसी अवदान पर अवलंबित है। शिवस्वामी ने इस बौद्ध काव्य को निबाहा खूब है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उस पर भारवि और माघ दोनों का प्रचुर प्रभाव है।

### वासुदेव

इस समय से कुछ ही काल बाद संभवतः दसवीं शताब्दी के किसी भाग में वासुदेव नामक एक कवि हुआ, जिसने 'युधिष्ठिर-विजय' और उसी की क्रम-शृंखला में 'धातुकाव्य' लिखा है। हलायुध की ही भाँति इस कवि ने भी काव्य को व्याकरण का वाहन बनाया। यह महाभारत की कथा वास्तव में व्याकरण के नियमों और धातुओं के संबंध में कही गई है। वासुदेव का समय ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता।

### रत्नाकर

वागीश्वर रत्नाकर (राजानक) नामक एक दूसरा काश्मारी कवि संभवतः शिवस्वामी का समकालीन था। वह काश्मीर-नृपति बृहस्पति अथवा चिप्पट जयापीड़ और अवन्तिवर्मा का आश्रित था। इस प्रकार वह लगभग ८५० ईस्वी में हुआ होगा। रत्नाकर के महाकाव्य का नाम है—'हरविजय'। पश्चात्कालीन कवियों पर यथाप्रबन्ध भारवि और माघ ने काफ़ी प्रभाव डाला है। हरविजय पर भी शिशुपाल-वध की छाप दीख पड़ती है।

५० सर्गों में प्रस्तुत हरविजय शायद संस्कृत-साहित्य का सबसे विशद महाकाव्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कवि का काव्य यदि घटिया नहीं तो कम से कम उच्च कोटि का भी नहीं है। निरर्थक वर्णनों से प्रबन्ध-तन्तु ढीला हो गया है, कई स्थलों पर नितान्त कृत्रिम। यमकों के प्रयोग ने हरविजय की शैली को नितान्त बोझिल कर दिया है। रत्नाकर में प्रचुर पाण्डित्य है, परन्तु पाण्डित्य और काव्य के लाक्षणिक ज्ञानबाहुल्य से प्रबन्धकौशल की अनुपस्थिति में महाकाव्य किस प्रकार विकृत हो सकता है इस बात का ज्वलंत उदाहरण हरविजय है। हरविजय असंबद्ध प्रबन्ध का एक अद्भुत काव्य-विप्लव है, साहित्य में बेजोड़!

### अभिनन्द

नैय्यायिक जयन्त भट्ट का पुत्र अभिनन्द भी इसी नवीं शताब्दी में हुआ। वह भी काश्मीर का ही कवि था।

अभिनन्द स्वयं अपने कथनानुसार राजशेखर का समकालीन था। उसने बाण की कादम्बरी के आधार पर अपने महाकाव्य 'कादम्बरीकथासार' की रचना की। उसी के नाम का एक और कवि शतानन्द का पुत्र और 'रामचरित' का रचयिता था।

## क्षेमेन्द्र

काश्मीर देश में इस समय साहित्य का विशेष प्रचार था। उसका कानन निरन्तर फूल-फल रहा था। ग्यारहवीं सदी में वहाँ उस कवि का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके प्रयास का संस्कृत-साहित्य पर्याप्त ऋणी है। इस कवि क्षेमेन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसमें कथा कहने की विचित्र क्षमता थी और यद्यपि उसकी काव्य-शैली विशिष्ट न थी, फिर भी उसकी कृतियों की उपादेयता में किंचित् भी संदेह नहीं किया जा सकता। उसका सामर्थ्य और श्रम दोनों सराहनीय हैं। उसका प्रारम्भिक प्रयास 'रामायणमञ्जरी' है। निस्सन्देह इस काव्य में शैली अथवा कला का सौन्दर्य तो इतना नहीं है, परन्तु इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक प्रशस्त वस्तु-संकलन है। क्षेमेन्द्र ने बाण की कादम्बरी को भी अपनी पद्यमय 'कादम्बरी' में परिवर्त्तित कर दिया था। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमें कहीं-कहीं चतुर कवि का हस्तलाघव दृष्टिगोचर होता है, पर वास्तव में इसका यत्किंचित् चमत्कार बाण के कथावैचित्र्य का ही है। साधारणतया काव्यक्षेत्र में क्षेमेन्द्र का ऊँचा स्थान उसकी दो विशिष्ट रचनाओं पर अवलम्बित है। वे हैं—(१) भारतमञ्जरी और (२) दशावतारचरित। इनमें से पहली रचना १०३० ईस्वी और दूसरी १०६६ की है। भारतमञ्जरी में महाभारत की कथा का होना तो नाम से ही स्पष्ट है और दशावतारचरित में विष्णु के दसों अवतारों की कथा निरूपित है। इन अवतारों में नवाँ अवतार बुद्ध है, जिससे जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र के समय तक ब्राह्मणों की मेधा ने बुद्ध को अपने विष्णु की अवतार-पंक्ति में बिठा लिया था। बौद्ध धर्म की वर्णाश्रम-व्यवस्था-भंजक नीति ने ब्राह्मणधर्म पर निस्सन्देह गहरा आघात किया था और बौद्धों की तर्कशक्ति निश्चय ही ब्राह्मणों की अपेक्षाकृत बुद्धि को तिरोहित कर चुकी थी। परन्तु जान पड़ता है कि इसी समय ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म पर अपना वह अचूक अस्त्र फेंका, जिसके कारण बौद्धों का केन्द्रीय आराध्यदेव ब्राह्मणों का साधारण देव मात्र बन गया! इसमें शायद ही कोई सन्देह कर सकता है कि दशावतारों की पंक्ति में बुद्ध की प्रभा धूमिल हो गई है। ब्राह्मणों ने बौद्धों के इष्टदेव को अपने देवताओं में डालकर उन्हें खपा लिया। यह ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक 'साधारणीकरण' क्षेमेन्द्र से शायद कुछ ही काल पूर्व हुआ होगा—संभवतः गुप्त सम्राटों के शीघ्र बाद ही। मध्ययुग का उत्तर-काल का प्रारंभ वास्तव में क्षेमेन्द्र के कुछ ही पूर्व होता है।

## मङ्ख

बारहवीं सदी में होनेवाले काश्मीरी कवि मङ्ख का नाम भी स्मरणीय है। मङ्ख अलंकारों के पण्डित रुय्यक का शिष्य था। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ 'अलङ्कार-सर्वस्व' में मङ्ख के काव्य 'श्रीकण्ठचरित' का हवाला दिया है। श्रीकण्ठचरित पचीस सर्गों में प्रस्तुत शिव द्वारा त्रिपुरासुरवध की कथा है। इस महाकाव्य का सबसे सुन्दर वर्णन १५ वें सर्ग में है, जिसमें मङ्ख की यथार्थ विशेषता झलकती है। इसमें तत्कालीन राजा जयसिंह के मंत्री अलङ्कार का, जो कवि का भाई था, दरबार वर्णित है। यह दरबार तत्कालीन विद्वानों का है। यह दरबार उस समय के विद्वानों की तालिका के लिए अद्भुत सामग्री प्रस्तुत करता है। इससे मङ्ख का काल भी साफ़-साफ़ निश्चित हो जाता है। वह राजा जयसिंह का समकालीन था और इस जयसिंह ने सन् ११२६ ई० से ११५० ई० तक राज्य किया था।

## जयरथ

जयरथ भी काश्मीर की ही काव्य-परम्परा का कवि था और हुआ भी वह लगभग मङ्ख के ही काल में। उसने 'हरचरितचिन्तामणि' नामक एक काव्य लिखा। परन्तु इससे न तो तत्कालीन ऐतिह्य पर ही कुछ प्रकाश पड़ता है और न काव्याध्ययन का ही आनन्द सम्पन्न होता है। यह शैव संप्रदाय की पौराणिक कथाओं और अनुश्रुतियों से निस्संदेह भरा पड़ा है।

## अमरचन्द्र

इस काल में ब्राह्मणधर्म में कुछ विशेष क्षमता आ गई थी। पहले तो उनके जैसे ही पुराण उन्हीं के प्रभाव से बौद्धों और जैनों ने भी अपने-अपने सम्प्रदायों के लिए प्रस्तुत कर लिए थे। इसका मुख्य कारण यह था कि आरंभ में जब इन धर्मों के पुराण बने तब उनकी सामग्री ब्राह्मण अनुश्रुतियों और पुराणों से ही ले ली गई थी। बुद्ध नए अवश्य थे परन्तु बौद्ध अपने देवता कहाँ से लें? उन्हें ब्राह्मणों के देवता ही स्वीकार करने पड़े। न्याय और तर्क में तो इन देवताओं की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु जब सम्प्रदाय लोकप्रिय होने लगता है, तब पुराणों और इतर देवताओं

की आवश्यकता होती है। इस सिद्धान्त के अनुकूल व्यक्तिगत इष्टदेव की खोज में मानव बुद्ध-मूर्त्ति की प्रतिष्ठा हुई और हीनयान से महायान की ओर साम्प्रदायिक प्रगति हुई। इसके अलावा ब्राह्मण देवताओं को बुद्ध के समक्ष निकृष्ट सिद्ध करने के लिए उन्होंने इन्हें उनके चमरधारी और अन्य अनुचर-वर्ग बना लिया। परन्तु काल के प्रभाव से कुछ ऐसा घटा कि ये अनुचर ही इष्ट को खा गए! इन्द्र-ब्रह्मादिक तो मुख्य हो गए और बुद्ध ब्राह्मणों के दशावतारों में खो गए! यही स्थिति जैनों की भी हुई। दूसरी बात यह थी कि वाल्मीकि के बाद काव्य-परंपरा में बौद्ध अश्वघोष का स्थान प्रथम होते हुए भी वास्तव में उस परम्परा के स्तंभ बने ब्राह्मण प्रबन्ध-कवि और नदी की भाँति पहले उनका स्रोत पतला होते हुए भी बाद में प्रशस्त हो चला। अब बौद्ध और जैन कवियों ने जो प्रबन्ध और विषय के आदर्श के लिए अपने पीछे देखा तो उनके अश्वघोष तो कब के खो चुके थे और उनके विजित काव्य-संसार पर कालिदास अपना जयस्तंभ गाड़कर रघुवंश का साका चला चुके थे। फिर उसी स्रोत के प्रखर प्रवाह को अपनी कला और पाण्डित्य से भारवि, कुमारदास और माघ ने और प्रशस्त किया। अब जो बौद्ध और जैन साहित्यिक काव्य की ओर फिरे तो उन्हें अपने आदर्श ब्राह्मण साहित्यकारों ही में दिखाई दिए। शिवस्वामी के 'कप्फणाभ्युदय' की सामग्री का आभास अवदानशतक में प्राप्य होने पर भी काव्य-कला का पूरा संभार उसे शिशुपालवध में ही मिला। माघ की कृति की वह मानों प्रतिच्छाया है। सामिप्य के कारण शिशुपाल-वध जैसे इस युग के अन्य ब्राह्मण-साहित्यकारों के काव्यों को प्रभावित करता है उसी प्रकार उसकी मुद्रा बौद्ध और जैन प्रयासों पर भी गहरी बैठी है।

जैनों के अमरचन्द्र ने इसी परम्परा में और इसी ऋण से उपकृत हो अपना 'बालभारत' लिखा। छन्दों के विचार से यह काव्य स्तुत्य है, यद्यपि प्रबन्ध और लालित्य इसमें शिथिल हैं। यह काव्य संभवतः तेरहवीं सदी के मध्य में प्रणीत हुआ, क्योंकि अमरचन्द्र का काल १२५० ई० के लगभग माना जाता है।

### लोलिम्बराज

लोलिम्बराज ने १०५० ईस्वी के लगभग अर्थात् अमरचन्द्र से क़रीब दो सौ वर्ष पूर्व अपना 'हरिविलास' नामक काव्य लिखा, जिसमें कृष्णचरित का वर्णन है। यह भी प्राचीन काव्यों की ही एक साधारण काव्यानुकृति है।

### सन्ध्याकर नन्दी, धनञ्जय, कविराज, हरदत्त, चिदम्बर, वेंकटाध्वरिन्

बारहवीं शताब्दी में उस श्लेषात्मक काव्य का पूरा-पूरा विकास हुआ, जिसका आरंभ कविवर भट्टि ने कर दिया था। इस प्रकार के काव्य से दो कथाओं का बोध होता है। सन्ध्याकर नन्दी द्वारा विरचित 'रामपालचरित्र' उसी प्रकार का एक काव्य है। इस प्रकार की काव्य-परम्परा में शायद 'रामपालचरित्र' प्रथम ग्रन्थ है। इसमें रामायण की कथा और बंगाल के पालवंश के नृपति रामपाल की जीवनी एक साथ लिखी मिलती है! एक ही श्लोक से रामायण की कथा और ऐतिहासिक रामपाल की जीवन-घटनाओं का बोध होता है। रामपाल ने ग्यारहवीं सदी के अन्त में राज्य किया था। इस प्रकार सन्ध्याकर नन्दी उसका समकालीन या उसके कुछ ही बाद का रहा होगा। धनञ्जय दिगम्बर जैन था और उसका दूसरा नाम संभवतः श्रुतकीर्त्ति था। उसने अपने काव्य की रचना ११२३ ई० और ११४० ई० के बीच की। उसके काव्य का नाम था 'राघवपाण्डवीय।' इसी प्रकार के एक और नाम का ग्रन्थ माधव भट्ट (अथवा सूरि और पण्डित उपनामधारी) 'कविराज' ने लिखा। समाननामा इन दोनों 'राघव-पाण्डवीयों' का उद्देश्य एक ही है—अर्थात् श्लेषात्मक रूप से एक ही श्लोक द्वारा रामायण और महाभारत दोनों की कथाओं को व्यक्त करना। संस्कृत की समर्थ पदावली ही इस प्रकार के नट-काव्य को संपन्न कर सकती थी! कविराज के काव्य में फिर भी काफ़ी चमत्कार है, यद्यपि इस प्रकार के काव्य-प्रणयन में काव्य का विकास इतना नहीं होने पाता, जितना असाधारण मेधा का। कविराज ने यदि साधारण एकार्थक काव्य पर लेखनी उठाई होती तो शायद उसका यश अधिक व्यापक होता और उसकी भारती अधिक कान्तिमती होती!

इन तीनों के अतिरिक्त दो और कवियों ने इसी प्रकार के श्लेषात्मक काव्य रचे हैं। उनमें से एक का नाम है हरदत्तसूरि और दूसरे का चिदम्बर। हरदत्तसूरि ने 'राघव-नैषधीय' की रचना की, जिसकी एक कथा रामचरित और दूसरी नल की कथा से संपर्क रखती है। हरदत्त के काल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु चिदम्बर निस्सन्देह बहुत पीछे का है। चिदम्बर ने इस काव्य-सम्बन्धी बाजीगरी को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, क्योंकि उसके 'राघवपाण्डवीययादवीय' नामक काव्य में रामायण और महाभारत की कथाओं के साथ ही एक तीसरी

कथा भी चलती है, भागवत पुराण में वर्णित यादव-कुल (अथवा कृष्ण) की। इसके विपरीत परन्तु इसी वर्ग में वेंकटाध्वरिन् नामक एक अन्य कवि ने एक अनोखा काव्य लिखा। उसका नाम 'यादवराघवीय' है। यह छोटा-सा काव्य ३० श्लोकों में ही समाप्त हो गया है। इसे सीधा पढ़ने से राम की कथा और उल्टा पढ़ने से कृष्ण की कथा का बोध होता है! इस प्रकार का एक दूसरा ग्रन्थ लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र ने सन् १५४२ ईस्वी में अयोध्या में लिखा। इसका नाम है 'रसिकरञ्जन', जिसे एक ओर से पढ़ने से शृंगारपरक वर्णन मिलता है और दूसरी ओर से पढ़ने से वैराग्यपरक। विद्यामाधव नामक एक फलित ज्योतिष का ग्रन्थकार हो गया है। उसने भारवि पर टीका लिखी है। इस प्रकार की बाजीगरी में वह बाण, सुबन्धु, कविराज, और स्वयं अपने को आदर्श मानता है। इसी प्रकार के एक काव्य 'पार्वतीरुक्मिणीय' में उसने शिव और पार्वती तथा कृष्ण और रुक्मिणी दोनों के विवाहों का एक साथ वर्णन किया है! यह विद्यामाधव चालुक्यराज सोमदेव के संरक्षण में था।

### श्रीहर्ष

बारहवीं शती के उत्तरार्ध में होनेवाले श्रीहर्ष ने अपना 'नैषधचरित' लिखकर फिर एक बार महाकाव्यों की परम्परा का पुनरुद्धार किया। परन्तु उसके बाद शायद इस परंपरा का अन्त ही हो गया। श्रीहर्ष के संरक्षक कन्नौजाधिपति विजयचन्द्र और जयचन्द्र थे। जयचन्द्र पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी का समकालीक था और मुसलमान नृपति द्वारा युद्ध में ११९४ ई० में मारा गया। श्रीहर्ष ने स्वयं बताया है कि उसके पिता का नाम हरि और माता का मामल्लदेवी था। इस महाकाव्य के अतिरिक्त श्रीहर्ष अन्य ग्रन्थों के भी रचयिता थे। उन्हीं में से एक 'खण्डनखण्डखाद्य' भी है, जिसमें उन्होंने वेदान्त का निरूपण किया है। खण्डनखण्डखाद्य इस बात का सबल प्रमाण है कि किस किस प्रकार जहाँ कवि एक ओर परिमार्जित काव्य पर लेखनी चलाते थे, वहीं दूसरी ओर न्याय और तर्क सन्बन्धी विषयों पर भी अबाधरूप से लिख सकते थे! श्रीहर्ष मध्यकाल के बाजीगर-कवियों को लाँघ आसानी से उस युग के प्रबल काव्यकारों के समक्ष पहुँच जाते हैं जिसमें भारवि और माघ हैं। श्रीहर्ष का छन्द और अलंकारों पर प्रभुत्व है। भाषा और शैली पर भी उनका असाधारण अधिकार है। अन्तःपुर और बन दोनों के उनके वर्णन सुन्दर और असामान्य हैं। जिस स्वाभाविकता से वह प्रासादान्तर्गत घटनाओं का वर्णन करते हैं उसी प्रकार उनकी लेखनी अरण्य के प्रसंगों पर भी चलती है। वन-वर्णन तो उनका कई स्थलों पर वाल्मीकि और कालिदास से टक्कर लेने लगता है। कामसूत्र के भी वह मार्मिक पण्डित हैं। श्रीहर्ष की भी गणना कालिदास, भारवि और माघ की श्रेणी में ही की जाती है, जो उचित है। उनके काव्य में ६० से १२० सर्गों तक की संख्या बताते हैं। परन्तु यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता कि श्रीहर्ष-सा श्रेष्ठ और असामान्य कवि अपने प्रबन्ध को इतना बोझिल करेगा। पता नहीं, यह कहाँ तक सत्य है। एक 'उत्तरनैषधीय' नामक काव्य भी मिला है, जो सोलह सर्गों में है और जिसका प्रणयन वन्दारु भट्ट ने किया है। नैषधीय का वर्त्तमान काव्य केवल नल और दमयन्ती के वैवाहिक जीवन के आनन्दोपभोगों तक ही पहुँच कर रह जाता है।

ऊपर छन्दालंकारों के विषय में इस कवि की प्रौढ़ता का हम बखान कर आए हैं। श्रीहर्ष की शैली नितान्त परिमार्जित है और यद्यपि श्लेष का उन्होंने भी प्रचुर उपयोग किया है परन्तु इस क्षेत्र में उनकी प्रभुता शायद अद्वितीय है। यमकों का अतिशय प्रयोग अवश्य कुछ असंयत सा दीखता है। फिर भी श्रीहर्ष संस्कृत के उत्तम कवियों में से एक हैं। उनकी एक उक्ति चन्द्रमा के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रेरधीत्यकाभूमितिरस्करिण्या।
प्रवर्षति प्रेयसि चन्द्रकाभिश्चकोरचञ्चूचुलुकम्प्रतीन्दुः॥

एक अभिसार सम्बन्धी वर्णन नीचे के श्लोक में हैः—

ध्वान्तद्रुमान्तानभिसारिकास्त्वं शङ्कस्व संकेतनिकेतमाप्ताः।
छायाछलादुज्झितनीलचेला ज्योत्स्नानुकूलैश्चलितादुकूलैः॥

श्रीहर्ष ने छन्दों का जो सुन्दर प्रयोग किया है, उसमें प्रमुख स्थान उन्होंने केवल १९ को ही दिया है। इनमें से इन्द्रवज्रा की शाखा उपजाति प्रमुख है, जो लगभग सात सर्गों में प्रचुरता से प्रयुक्त हुई है। वंशस्था का भी प्रमुख उपयोग कवि ने प्रायः चार सर्गों में किया है। दो-दो सर्गों में श्लोक, वसंततिलक और स्वागता का विशिष्ट प्रयोग हुआ है और इसी प्रकार द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय, और हरिणी का एक-एक में। अन्य छन्दों में कवि ने अचलधृति, तोटक, दोधक, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी, और स्रग्धरा का उपयोग किया है।

यहाँ पर उस किंवदन्ती का उल्लेख कर देना उचित होगा जो मम्मट और श्रीहर्ष के सम्बन्ध में कही जाती है। कहते हैं, श्रीहर्ष मम्मट का भतीजा था और जब उसने अपना नैषधीय गर्वपूर्वक उसे दिखाया तो मम्मट ने कहा कि "तुमने मेरे 'काव्यप्रकाश' लिखने के पूर्व इसे क्यों नहीं

दिखाया। यदि तुम ऐसा करते तो मुझे काव्यदोष वाले प्रकरण के लिए विविध काव्यों में अशुद्धियों के लिए भटकना न पड़ता! सब एक ही स्थल पर प्राप्त हो जातीं और मेरा श्रम बच जाता।" परन्तु श्रीहर्ष इस प्रकार की आलोचना से बहुत ऊपर हैं, यह कहने की शायद आवश्यकता नहीं।

उत्तरकाल में जैन-साहित्य भी खूब फूला-फला। जैन लोग अधिकतर संस्कृत ही में लिखते थे, यद्यपि प्राकृतों में भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। कनकसेन-वादिराज नामक एक द्राविड़ जैन ने 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा। इसमें चार सर्ग और २९६ श्लोक हैं। यशोधरचरित की सामग्री कुछ समय बाद होनेवाले सोमदेव के 'यशस्तिलक' से मिलती है। कनकसेन श्रीविजय का गुरु था। यह श्रीविजय ९५० ईस्वी के लगभग जीवित था और यह काफ़ी प्रसिद्ध भी हो गया है। उसका गुरु होने के कारण कनकसेन दसवीं सदी के दूसरे चरण में रहा होगा। ग्यारहवीं सदी के गुजरात के एक श्वेतांबर जैन माणिक्य सूरि ने प्रायः इसी विषय पर एक अन्य ग्रन्थ उसी 'यशोधरचरित' नाम का लिखा। यह वादिराज कनकसेन के दिगम्बर साम्प्रदायिक वर्णन के विरोध में श्वेताम्बरीय है, परन्तु दोनों के वर्णन, कुछ हद तक सामग्री भी, भिन्न हैं। हेमचन्द्र नाम का प्रख्यात जैनाचार्य भी लगभग इसी काल में हुआ। उसका समय १०८८ ई० से ११७२ ई० तक है। उसका विशद काव्य-ग्रन्थ, 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित,' सन् ११६० और ११७२ ई० के बीच लिखा गया। इसके दस पर्वों में ६३ जैन आदर्श पुरुषों के जीवनचरित दिए हुए हैं। इनमें से २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव, और ९ विष्णुद्विष हैं। इस काव्य की भाषा सरल, किन्तु शैली बोझिल है। इसके अन्तिम पर्व में महावीर-सम्बन्धी कुछ ऐतिहासिक सामग्री है।

हरिश्चन्द्र नामक एक अन्य जैन आचार्य ने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक इक्कीस सर्गों के एक काव्य में जैनों के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित लिखा। हरिश्चन्द्र का समय अज्ञात है। बारहवीं सदी के अलंकारों के ग्रंथकार वाग्भट ने तेरह सर्गों में नेमिनाथ पर 'नेमिनिर्वाण' नामक एक काव्य लिखा। इसी प्रकार तेरहवीं सदी के देवप्रभसूरि ने 'पाण्डवचरित्र' और 'मृगावती चरित्र' नामक काव्य लिखे। ११५९ श्लोकों और चौदह सर्गों में समाप्त 'महीपालचरित्र' नाम का एक महाकाव्य चारित्रसुन्दरगणि का बताया जाता है। इन काव्यों में केवल कथानक की प्रमुखता है, भाषा अथवा शैली की नहीं। वास्तव में इस काल में सम्पन्न एक महाकाव्य काफ़ी अच्छा है। इसका नाम है 'पद्यचूड़ामणि' और इसका रचयिता है बुद्धघोषाचार्य। यह बुद्धघोषाचार्य कौन है यह कहना कठिन है। बुद्धघोष नाम का एक प्रकाण्ड पण्डित पाली का हुआ है। दोनों के एक होने में कुछ प्रमाण भी दिए गए हैं, परन्तु वे अकाट्य नहीं जान पड़ते और इन दोनों व्यक्तियों की एकता में सन्देह होना स्वाभाविक है। आश्चर्य नहीं कि दोनों दो व्यक्ति हों।

### बिल्हण

पूर्व-मध्य-काल में जो शतकों या अन्य गेय काव्यों (Lyrics) की परम्परा चली थी, वह उत्तर-काल में भी चलती रही। हमने ऐतिह्य की सुविधावश उस प्रसंग को छोड़कर बीच में साधारण अथवा निम्नकोटि के काव्यों का ऐतिहासिक विवेचन ले लिया था। अब फिर उस शतकों और सुभाषितों के प्रसारक्रम पर विचार करना उपादेय होगा। भर्तृहरि और अमरु के पश्चात् बिल्हण का काल आता है। बिल्हण काश्मीरी कवि था। उसका विशेष परिचय अन्यत्र दिया जायगा, ऐतिहासिक कृतियों के संबंध में। यहाँ उसकी स्फुट कविताओं का ही हवाला दिया जायगा। बिल्हण की एक रचना का नाम है 'चौरपञ्चाशिका' अथवा 'चौरीसुरतपञ्चाशिका'। इसमें प्रेमसम्बन्धी ५० श्लोक हैं। यह 'चौरपञ्चाशिका' 'बिल्हण-काव्य' नामक रचना का एक अन्तरङ्ग है। कहते हैं कि इसके ५० श्लोकों की रचना एक राजकुमारी के गुह्य प्रेम के संबंध में हुई थी। जब उस प्रेम का पता चल गया तब राजा ने बिल्हण के वध की आज्ञा दे दी। परन्तु जब उसे वधस्थल की ओर ले जाने लगे तब वह अपने प्रणय-संबंधी विहारों के शृंगारमय वर्णन का भावपूर्ण और रोमाञ्चक गायन करने लगा। तब उसकी प्रेम-कातरता से प्रभावित होकर राजा ने न केवल उसे छोड़ ही दिया वरन् उसका विवाह भी राजकुमारी के साथ कर दिया। यह कथा बिल्हण-काव्य के काश्मीरी और दक्षिण-भारतीय दोनों पाठों में उस प्रसंग तक समान रूप से मिलती है। परन्तु इसके बाद दोनों के प्रबन्ध में कुछ अन्तर पड़ता है। काश्मीर वाले पाठ में लिखा है कि राजकुमारी का नाम चन्द्रलेखा था और वह महिलपत्तन के राजा वीरसिंह की कन्या थी। दक्षिण के पाठ में इसके विरुद्ध राजकन्या का नाम यामिनीपूर्णतिलका बताया है और उसे पञ्चाल के राजा मदनाभिराम की पुत्री कहा है। अठारहवीं सदी के अन्त (१७९८) में

होनेवाले टीकाकार रामतर्कवागीश का कहना है कि वास्तव में यह चौरपञ्चाशिका देवी कालिका के प्रति चौर-पल्ली के राजकुमार सुन्दर का स्तोत्र है। यह स्तोत्र-पाठ उसने राजा वीरसिंह की पुत्री विद्या के प्रणय-षड़यन्त्र के कारण प्राणदण्ड से त्राण पाने के लिए किया था। इसके शीर्षक के संबंध में वह टीकाकार कहता है कि इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसका रचयिता चौर नामक कवि था। इसमें सन्देह नहीं कि एक चौर नामक कवि की अनेक कविताएँ सुभाषितों में मिलती हैं। परन्तु स्वयं बिल्हण की व्याख्या इन दोनों के विपरीत है। 'विक्रमांकदेवचरित' में वह कहता है कि उसका संबंध किसी राजकीय षड़यन्त्र से न था। जान यह पड़ता है कि बिल्हण ने इस कविता में किसी चोर या दस्यु का प्रेम एक राजकुमारी पर दर्शाया है। कविता से यह सिद्ध है कि इसकी नायिका राजकुमारी थी। वध वाले श्लोक प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। चाहे जितना अंश इस कविता का प्रक्षिप्त हो, पर इतना निस्सन्देह सत्य है कि इसका केन्द्रीय भाग बिल्हण का ही है। 'विक्रमांकदेवचरित' और 'पञ्चाशिका' दोनों ही की शैली परिमार्जित और भाषा सरल है। वसन्ततिलक का जितना सुन्दर और सुष्ठु प्रयोग 'पञ्चाशिका' में बिल्हण ने किया है उतना अन्यत्र कम देखने में आता है।

### जयदेव

जयदेव संस्कृत-गगन का सुधाकर है। उसका-सा मधुर कवि संस्कृत भाषा ने दूसरा नहीं जन्माया। कालिदास का प्रबन्ध, उनका पाण्डित्य, उनकी शब्दयोजना, काव्यमर्मज्ञता सब कुछ जयदेव से ऊँची है, परन्तु ध्वनि-माधुर्य और पदलालित्य में जयदेव स्वयं कालिदास से बढ़ गया है। संस्कृत-काव्य में जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर, अन्तिम सोपान है—उत्तरकालीन कवियों की पिछली शृंखला में सबसे बड़ा। जयदेव सेनवंश के अन्तिम नृपति लक्ष्मण सेन का समकालीन और दरबारी कवि था। लक्ष्मण सेन ने सन् ११११ ईस्वी में लक्ष्मण संवत् नाम से अपना एक संवत् चलाया था। इस प्रकार जयदेव का काल बारहवीं सदी के आरंभ से लेकर मध्य के आस-पास तक ठहरता है। जब भारत के सिंहद्वार पर मुसलमान विजेताओं के भयंकर आघात हो रहे थे तब जयदेव अपनी मधुर भारती से कृष्ण का स्तवन कर रहा था, और संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय अपने 'गीतगोविन्द' का प्रणयन कर रहा था। वैसे काव्य-क्षेत्र में उस समय वह सर्वथा अकेला भी न था। लक्ष्मण सेन विद्यापारखी और विद्वानों का आदर करनेवाला नरेश था। उसकी राजसभा में जयदेव, गोवर्धन, धोई, शरण, और उमापति-धार नामक पाँच रत्न थे। उन्हीं रत्नों में मुकुटमणि जयदेव था।

जयदेव किन्दुबिल्व का रहनेवाला था और उसके पिता का नाम भोजदेव था। जयदेव कृष्ण का अनुपम भक्त था। सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में हिन्दी में एक हरिगोविन्द का स्तोत्र है, जिसे हिन्दी की प्राचीनतम कविता कहते हैं।* उसमें और भक्तमाल की कितनी ही अनुश्रुतियों में जयदेव के कृष्णभक्त होने का उल्लेख है। कहते हैं कि राधा के सौन्दर्य-वर्णन में जब कवि की मानव शक्तियाँ समर्थ न हो सकीं तब स्वयं कृष्ण ने उस कार्य में उसकी सहायता की। इसमें सन्देह नहीं कि 'गीतगोविन्द' के अतिरिक्त उसने अन्य काव्य नहीं लिखा, परन्तु निस्सन्देह अकेला यह ग्रंथ ही जयदेव को मूर्धाभिषिक्त कर देने में पर्याप्त है। 'गीतगोविन्द' काव्य में सुईकारी है, साहित्य में कलावन्त का सफल शिल्पकार्य। गीतगोविन्द भारतीय साहित्य में अनुपम, असाधारण और अद्वितीय है। इस काव्य में गोपाल कृष्ण के गोपियों के साथ राग-विलास का गायन है। इस बात से ही उस महाकवि का यश प्रतिष्ठापित है कि उसके जन्मस्थान पर उसकी स्मृति में सदियों तक प्रत्येक वर्ष मेला लगता और रात्रि में गीतगोविन्द का पाठ होता रहा है। सन् १२६१ ईस्वी के ही एक उत्कीर्ण लेख में गीतगोविन्द का एक श्लोक उद्धृत है, जिससे जयदेव के यश का आशु-प्रसार सिद्ध है। पन्द्रहवीं शती के अन्त तक तो वह इतना लोकप्रिय हो गया कि १४९९ ईस्वी में प्रतापरुद्रदेव ने एक विज्ञप्ति निकालकर नर्त्तकों और वैष्णव गायकों के लिए एकमात्र उसके पदों को गाने की घोषणा कर दी। जयदेव ने स्वयं अपने लिए 'कविराज-राज' पद का व्यवहार किया है। इस प्रयोग का औचित्य तब से भले प्रकार स्थापित हो चुका है।

जयदेव का यह काव्य, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नितान्त अनुपम है। विद्वानों ने इसे नाटकीय गुणों से 'यात्रा' तक कह डाला है। वास्तव में गीतगोविन्द को गान और नाटक के किसी मिश्रित स्तर में रखना उचित होगा, परन्तु संस्कृत आलोचना-शास्त्र में इस प्रकार के मिश्रकाव्य-

* इसे हिन्दी की प्राचीनतम कविता मानना अनुचित है। हिन्दी की वास्तविक प्राचीनतम कविता वज्रयानी सिद्धों की है, जिनके दोहों की ओर श्री राहुल सांकृत्यायन ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।

निबन्ध के लिए कोई संज्ञा नहीं है। कवि ने गीतगोविन्द को सर्गों में विभाजित किया है, इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कम से कम उसका उद्देश्य इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत करना न था। वह इसे काव्य ही मानता था। गीतगोविन्द के पद गेय हैं और प्रत्येक के आरंभ में उसके राग, ताल, तथा सहगामी नृत्य का लाक्षणिक संकेत भी कवि ने सर्वत्र कर दिया है। इस रूप में गीतगोविन्द संस्कृत साहित्य में रूपरेखा और भावनिदर्शन में सर्वथा नवीन और नितान्त मौलिक है। काव्यजगत में गीतगोविन्द लिखते समय जयदेव के लिए कोई आदर्श न था। 'यात्राओं' के ग्राम्य जन-साधारण रूप को अत्यन्त ऊपर उठाकर उनसे पर्याप्त पृथक् होकर जयदेव ने इस अपूर्व काव्य विशेष की रचना की और इसके सरल माधुर्य ने ही इसे लोकप्रिय बना दिया। किस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा से नितान्त नागरिक और ऊर्ध्वस्तरीय साहित्य को भी जनप्रिय बना सकता है, गीतगोविन्द उसी का उदाहरण है।

गीतगोविन्द का गायन सर्वथा श्रुतिमधुर और इसकी पदावली सहज सुकुमार है। प्रसाद का जितना उज्ज्वल तरल रूप इस काव्य में मिलता है, उतना सारे संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र खोजे भी कहीं नहीं मिलता। इस गीति-काव्य में कथोपकथन और गायन अद्भुत सरलता से मिश्रित हैं। प्रत्येक स्थल पर आरंभ में वक्तव्यश्लोक पहले प्रसंग-विशेष का निरूपण कर देते हैं, फिर गेय श्लोक आते हैं, जो कृष्ण, राधा और उनकी प्रिय सखी के भावों की मृदु व्यञ्जना करते हैं। विदेशी आलोचकों ने जयदेव के काव्य को कामविदग्ध कहा है। कुछ ने देवता के दैहिक विलास का भक्त द्वारा वर्णन भी अनुचित माना है। परन्तु भारतीय काव्य-प्रथा में यह आचार न तो कुछ नवीन है और न अनुचित। स्वयं कालिदास ने कुमारसंभव के आठवें सर्ग में अपने इष्टदेव शिव के विलास का इसी प्रकार का स्पष्ट मानव-वर्णन किया है। अनेक अन्य कवियों ने भी इस तरह की अनौचित्य चर्चा की है। जयदेव इसमें कुछ अपूर्व अथवा असाधारण नहीं हैं। बाद की प्रान्तीय भाषाओं में भी इसी प्रकार के वर्णन के प्रयास हुए हैं। हिन्दी अष्टछाप के कुछ कवियों की कृतियाँ भी इसी विषय से अनुप्राणित हैं। मथुरा-वृन्दावन के सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के ब्रजभाषा के कवि बेनी-माधव में तो यह वर्णन इतना चित्र-परक हो उठा है कि उसे पढ़कर इस प्रव्रजित कवि में श्रद्धा नहीं उससे घृणा हो आती है। वास्तव में बिना प्रणय और विलास की कामना हृदय में छिपाए कवि इस प्रकार का अनर्गल वर्णन नहीं कर सकता। सच तो यह है कि अधिकांश में आसक्ति-वर्णन अनासक्त नहीं हो सकता और इन 'साधु'-कवियों ने जो रति-वर्णन किए हैं वे यथार्थतः अतृप्ति के उद्रेक हैं। यौवन के भरे विलास के पूर्व ही जो प्रव्रजित या सन्यस्त होते हैं, बहुधा उनकी दबी प्रवृत्ति जग उठती है और चूँकि मानवादर्श में उनका स्खलन निन्द्य समझा जाता, अपने संचित प्रणय और विलास का केन्द्र वे इष्टदेव को ही बनाते हैं। स्वयं जयदेव भी इस दोष से मुक्त नहीं हो सकते। फिर भी उनकी कृति में एक धार्मिक स्पंदन है।

गीतगोविन्द काव्य की दृष्टि से अनुपम है। भारतीय साहित्य में कोई कृति ऐसी नहीं जिससे इसकी तुलना की जा सके। अधिकारी कवि के हाथ से यह अद्भुत कला की वस्तु बन पड़ा है। जहाँ यह वर्ण-चित्र रत्नों की राशि उपस्थित करता है वहाँ उनको यह इधर-उधर बखेरता नहीं वरन् वास्तुविशारद की कुशलता से एक-एक को यथास्थान जड़ता है। गीतगोविन्द निस्सन्देह काव्यकला की पच्चीकारी है। इसमें प्रबन्ध को भी भले प्रकार निबाहा गया है। काम-लालसा जब पात्रों में समागम के भाव भरती है तब कलावन्त कवि उन्हें विरहाग्नि से तपाता है और नायक के उपस्थित होने पर मान का चेष्टित क्रोध सच-झूठ जाग-सा उठता है। परन्तु सजग प्रणयी कृष्ण अपने मनोहर मृदुल उपचारों से उसे शान्त कर नायिका को ठग ही लेता है। राधा की सखी उनकी सहायता करती है। कामना, विरह और मिलन के गान हृदय को झक-झोर देते हैं। गीतों में जो ध्वनि बसी है, वह केवल शब्द-ध्वनि नहीं, चेष्टा की संस्कृत प्रच्छन्न ध्वनि है। ध्वनि-माधुर्य मानो हृदय को थिरका देता है। गीतगोविन्द के वर्ण-चित्र और शब्द-ध्वनि निस्सन्देह अन्य अप्राप्य हैं। जयदेव की लेखनी में अमृत का निवास है। उदाहरण के लिए हम केवल निम्न कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं:—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरतिहरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन समं
सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥

ऊपर की दोनों पंक्तियाँ पूरी-पूरी समस्त हैं, परन्तु उनकी मधुरता अनुपम है और निचली में तो नृत्य का बढ़ता हुआ वेग जैसे सुन पड़ता है। जयदेव मधुर गुंजन में निस्सन्देह करुण काव्य का मौलमणि है!